सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठो ! जागो ! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो ।)

वर्ष ४	चैत्र शाकाब्द १८८२, सं० २०१७विक्रमी	अङ्क १
Year 4	March–April 1960	No. 1

★ प्रार्थना ★

हे नाथ, तू ही मनुष्य–जीवन का ध्येय है ।

हमारी इच्छाएँ हमारी उन्नति में बाधक हैं ।

तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है ।

बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है ।

[श्री राम चन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना]

सम्पादकीयः—

प्राणाहुति

शक्ति-संचरण (*Transmission of Power*) प्रकृति के क्षेत्र की साधारण घटना है। गर्म लोहे के सम्पर्क में आने वाले ठण्डे लोहे में भी गर्मी का संचार हो जाता है; दहकते अंगारे से चिपका हुआ साधारण कोयला भी दहक उठता है।

स्थूल प्रकृति का यह नियम सूक्ष्म प्रकृति के क्षेत्र में भी परिलक्षित होता है। शब्दों अथवा अन्य प्रतीकों के माध्यम से भावों (*emotions*) और विचारों (*ideas*) का संक्रमण और प्रसरण तो आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान और समाज मनोविज्ञान में स्वीकार किया ही जाता है, वैयक्तिक विशिष्टताओं और सम्पूर्ण चरित्र (*character*) का अचेतन रूप से संचरण भी एक वास्तविक मनोवैज्ञानिक तथ्य है, भले ही इस का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान के क्षेत्र में अभी सम्भव न हो सका हो। नैतिक प्रशिक्षण (*Moral education*) की दृष्टि से इस तथ्य का महत्व जन साधारण में स्वीकार किया जाता है। यदि शिक्षक में कायरता अथवा मिथ्याचार का दोष विद्यमान है, तो केवल भाषण-क्षमता के बल से शिष्य में वीरता और सदाचरण के गुण उत्पन्न नहीं किये जा सकते; ऐसे शिक्षक के सम्पर्क में रहने वाले श्रद्धालु विद्यार्थी में अचेतन रूप से वही गुण संचरित होंगे, जो शिक्षक के चरित्र की विशिष्टता हैं। मानसिक और चरित्र-सम्बन्धी गुणों का यह अचेतन संचरण बुद्धिमान मनुष्यों को ही नहीं, पशुओं तक को प्रभावित करता है। कहा जाता है कि पूर्ण अहिंसक ऋषियों के

आश्रमों में पशु स्वाभाविक हिंसा छोड़ देते हैं. सॉप चरवाहे के पैर पर इसी डर से काटता है कि वह पत्थर से उस का सर कुचल देगा।

इस प्रकार के शक्ति-संचरण की अनेक आवश्यक शर्तें हैं, जिन में से कुछ मुख्य यह हैं :—(१) जिस वस्तु या व्यक्ति से किसी शक्ति या गुण का संचरण प्रारम्भ हो, उस में उक्त शक्ति या गुण उपयुक्त रूप में मौजूद होना; (२) जिस वस्तु या व्यक्ति में किसी शक्ति या गुण का संचरण अपेक्षित हो, उस में उक्त शक्ति अथवा गुण को ग्रहण करने की योग्यता; (३) संचरण की प्रक्रिया में सम्बद्ध वस्तुओं या व्यक्तियों का परस्पर समुचित सम्पर्क; (४) बाह्य परिस्थितियों का संचरण के अनुकूल होना, उदाहरणार्थ अग्नि के संचरण के लिए वायु में आक्सीजन की उपयुक्त मात्रा मौजूद रहना आदि।

जड़ प्रकृति की वस्तुओं और मानव में मुख्य अन्तर यही है कि मानव का व्यवहार स्वनियन्त्रित होता है। अतः मानवीय चरित्र के क्षेत्र में संचरण के विषय में भी वास्तविक सद्गुरु और सच्चे शिष्य की इच्छा-शक्तियों को प्रमुख स्थान प्राप्त है। अतः मानसिक गुणों और चरित्र सम्बन्धी विशिष्टताओं के संचरण की विधि (*Technique*) बस इच्छा—शक्ति का प्रयोग मात्र है। आधुनिक विज्ञान में बिजली आदि भौतिक शक्तियों की भाँति इच्छा-शक्ति की प्रकृति और क्रिया का ज्ञान उपलब्ध न होने के कारण आध्यात्मिक साधना आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से रहस्यपूर्ण हो गई है। वास्तव में आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान में इस कमी की पूर्ति अपेक्षित है। डाक्टर आइन्स्टाइन के संगठित-क्षेत्र-सिद्धान्त (*Unified Ficld Theory*) को दृष्टि में रखते हुये आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान द्वारा इस क्षेत्र का क्रियात्मक प्रयोगात्मक अन्वेषण भारतीय मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को

समझने में अत्यधिक सहायक होगा।

भारतीय मनोविज्ञान में इच्छा-शक्ति आत्मा की मूल-चालक शक्ति है, और उस से अभिन्न है। [आज के पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक को 'आत्मा' शब्द के प्रति कुछ कुण्ठा (*obsession*) सी हो गई है, अतः उस की सुविधा के लिए फ्रायड और मैक्डूगल् की भाषा में सम्पूर्ण व्यक्तित्व की चालक शक्ति कह लें; यद्यपि फ्रायड और मैक्डूगल् के 'व्यक्तित्व' के प्रत्यय उद्गमनात्मक (*Inductive*) और अनुभव-मूलक (*Empirical*) हैं, जब कि भारतीय मनोविज्ञान में आत्मा का प्रत्यय प्रधानतः निगमनात्मक (*Deductive*) और आभ्यन्तरिक (*Innate*) है।] वास्तव में सर्वव्यापी आद्य सत्ता की सन्तुलित (*balanced*) अवस्था में यह इच्छा—शक्ति भी उसी सत्ता में लय रहती है। शक्ति के रूप में इस का प्रकाशन उस सन्तुलित आद्य सत्ता में क्षोभ अथवा असन्तुलन उत्पन्न कर के अनेकता-पूर्ण सृष्टि की प्रक्रिया को प्रारम्भ कर देता है। यही एकाई के रूप में व्यक्तित्व के अनुभव का प्रारम्भ-विन्दु है। आलङ्कारिक भाषा में क्षुब्ध आद्य सत्ता ही आत्माओं की विभिन्नता का अनुभव है। उदाहरणार्थ पानी या दूध अपने आन्तरिक अणुओं में मौजूद आक्सीजन आदि गैसों के द्वारा उफन जाये तो उसके चारों ओर बुलबुले पैदा हो जायेंगे जो मूल द्रव पदार्थ से भिन्न तथा परस्पर भिन्न सत्ताएँ प्रतीत होने लगेंगी। आद्य सत्ता का यह सीमित खण्डित रूप असंतुलन उत्पन्न करने वाले क्षोभ के परिणामस्वरूप अपने मूल अथवा केन्द्र से जितनी ही दूर होता जायेगा, उस में उतनी ही स्थूलता आती जायेगी, और उस में विद्यमान उस अभिन्न चालक शक्ति का रूप परिवर्तित होता जायेगा, अर्थात् उस की क्रिया में स्वतन्त्र वरण (*Free choice*) के स्थान पर यांत्रिक—बद्धता (*mechanical bondage*) को प्राधान्य प्राप्त होता जायेगा। इस प्रकार समस्त मानसिक, जैविक, भौतिक शक्तियाँ कदाचित् सत्ता के विकास के विभिन्न स्तरों पर पाये जाने

वाले एक ही शक्ति के विभिन्न रूप हैं। वास्तव में सम्पूर्ण सृष्टि के आदि-अन्त-विषयक इस व्याख्या का महत्व व्यावहारिक समस्या की अपेक्षा तत्वज्ञान सम्बन्धी सैद्धान्तिक समस्या की दृष्टि से अधिक है, जिस में आधुनिक भौतिक शास्त्र उलझा हुआ है। भारतीय दर्शन में तो विशेषतः व्यावहारिक समस्या पर ही बल दिया गया है। जब काँटा चुभा हो तो पहला काम काँटा निकालना है, यद्यपि काँटे की बनावट, और क्रिया, उद्भव-स्थल, और विकास आदि का ज्ञान महत्वहीन नहीं है। अतः आत्मा और इच्छा-शक्ति के सम्बन्ध को आद्य-सत्ता के संदर्भ में ग्रहण कर के हम फिर शक्ति-संचरण और आध्यात्मिक साधना में उस के महत्व-विषयक समस्या पर आ जायें।

हमारी प्रस्थापना यह थी कि मानसिक गुणों और चरित्र-सम्बन्धी विशिष्टताओं के संचरण की विधि इच्छा-शक्ति का प्रयोग है। वास्तविक सद्गुरु और सच्चे अभ्यासी की इच्छा-शक्तियाँ उद्देश की ओर प्रगति में सहायक होती हैं। सद्गुरु अपनी इच्छा-शक्ति के प्रयोग द्वारा अपनी आध्यात्मिक स्थिति का संचार अभ्यासी में करता है, और अभ्यासी अपनी इच्छा-शक्ति के प्रयोग द्वारा सद्गुरु के साथ अनवरत सम्पर्क बनाए रहता है। उपमा की आँशिकता को ध्यान में रखते हुए इस प्रक्रिया को नली द्वारा जुड़े हुए पानी से भरे और खाली बर्तनों की उपमा द्वारा समझा जा सकता है। अपनी इच्छा शक्ति के प्रयोग की जिस क्रिया द्वारा अभ्यासी अन्तिम लक्ष्य (वास्तविक सदगुरू) से सान्निध्य' स्थापित किये रहता है उसे साधना के पारिभाषिक शब्दों में 'प्रेम' कहा जाता है; और सच्चा सदगुरू अपनी इच्छा शक्ति के प्रयोग की जिस क्रिया द्वारा अपने से सान्निध्य स्थापित किये हुए अभ्यासी में अपनी स्थिति उत्तरोत्तर उतारता जाता है, उसे 'कृपा' कहा जाता है। प्रेम और 'कृपा' एक दूसरे के पूरक और एक दूसरे से अभिन्न हैं। सद्गुरू की वास्तविक स्थिति ही उसका प्राण अर्थात् असली अस्तित्व है, और उसी का संचार अभ्यासी में होता है, इसलिए

आध्यात्मिक स्थिति के संचरण की यह प्रक्रिया सहज मार्ग साधना के पारिभाषिक शब्दों में 'प्राणाहुति' कही जाती है। सदगुरु की पहुँच आद्य-सत्ता के जितने ही निकट तक होती है, वह अपने सच्चे शिष्य को भी वहीं तक खींच लाने में सफल होता है। और चूंकि सच्चे सदगुरू का अटूट लगाव सत्ता के मूल केन्द्र से रहता है, अतः यह अनन्त यात्रा चलती ही रहती है, यहाँ तक कि किसीकी मध्यस्थता की भी आवश्यकता नहीं रह जाती; यद्यपि सच्चा शिष्य अपने सदगुरू से स्वतंत्र कभी नहीं होगा, क्योंकि आद्य सत्ता से सीधा सम्पर्क हो जाने पर भी उस आद्य सत्ता और सच्चे सदगुरू के प्राणअंततोगत्वा एक ही दृष्टिगोचर होते हैं। अतः सदगुरू से स्वतंत्र होकर परम सत्ता के केन्द्र से सीधा सम्पर्क जुड़ जाना; और सदगुरू से ऐसा लगाव पैदा हो जाना कि ईश्वर, ब्रह्म, आद्य सत्ता आदि से कोई मतलब ही न रहे—यह दोनों बातें एक ही स्थिति का दो प्रकार से वर्णन हैं। सहज--मार्ग--साधना की दृष्टि से दूसरी विधि अधिक सहज (*natural, easy*) है, यदि सच्चा सदगुरू प्राप्त हो जाए। उपासना और कृतज्ञता-प्रकाशन का विषय तो सदगुरू ही हैं। कबीर का प्रसिद्ध कथन है;—

गुरु गोविन्द, दोनों खड़े, का के लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरूदेव जिन गोविन्द दयो लखाय॥

वास्तव में अहंता की सीमा पार करने के बाद तो आद्य सत्ता की संतुलित अवस्था का क्षेत्र प्रारम्भ होने लगता है, जिस में विभिन्नता का अनुभव नाम मात्र को रह जाता है।

अध्यात्म और ब्रह्म--विद्या के प्रशिक्षण की एक मात्र विधि के रूप में 'प्राणाहुति' का महत्व समझ लेने के बाद यह आवश्यक है कि ऐसी प्रक्रियाओं से उस का अन्तर स्पष्ट कर लिया जाये, जो उसका भ्रम उत्पन्न करती हैं। (१) बहुधा किसी अच्छे महात्मा के

पास पहुँचने पर शान्ति और प्रसन्नता का अनुभव होता है, या संकीर्तन के समय पवित्रता का एक नशा जैसा महसूस होने लगता है। साधारणतः इसे वातावरण के विशिष्ट गुण के संचरण का उदाहरण तो माना जा सकता है, किन्तु ऐसा प्रभाव अस्थायी होता है; और आध्यात्मिक-प्रगति अथवा ब्रह्म-साक्षात्करण की प्रक्रिया में सहायता करने वाली सद्गुरु की 'प्राणाहुति' इस से अत्यन्त भिन्न वस्तु है। वातावरण के प्रभाव का उदाहरण तो यह भी है कि दुष्ट व्यक्ति के पास पहुँचने पर कुछ खिन्नता और मलिनता का अनुभव होने लगता है, या साधारण संगीत-गोष्ठी में भी अनुपम आनन्द की लहर का अनुभव होता है। प्रत्येक शुद्ध सात्विक प्रवृत्ति का महात्मा जिस का व्यक्तित्व शान्ति, आनन्द, पवित्रता आदि के परमाणु विकीर्ण करता हो, अनिवार्यतः 'प्राणाहुति' की योग्यता रखने वाला वास्तविक सद्गुरु नहीं बन जाता, लगभग उसी प्रकार जैसे कि प्रत्येक विद्वान का अच्छा शिक्षक हो जाना अनिवार्य नहीं। यह अवश्य है कि इस प्रकार के अच्छे महात्माओं का सम्पर्क अभ्यासियों की प्रवृत्तियों पर अंकुश का काम करता है, और उनमें अच्छी आदतों का विकास होता है, जिस की सामाजिक उपयोगिता अत्यधिक है, और आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से भी इसको प्रारम्भिक (*Preliminary*) महत्व प्राप्त है। किन्तु इस प्रकार की परमाणु—विकिरण की घटना की व्याख्या अधिकांश भौतिक-नियमों द्वारा हो सकती है। 'प्राणाहुति' द्वारा अभ्यासी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व आत्मोन्नति के एक के बाद एक नये स्तर पर संक्रमण करता हुआ चरम लक्ष्य की दिशा में प्रगतिशील होता है। वह इस प्रकार के बाह्य और स्थूल प्रभाव से अत्यन्त भिन्न है। (२) बहुधा सम्मोहन (*Hypnosis*) के अनेक प्रकार चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन के रूप में जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं। इसके द्वारा अपने में या किसी अन्य व्यक्ति में [जो प्रक्षेप (*suggestions*) को स्वीकार करता हो], इच्छानुसार शारीरिक और मानसिक स्थितियाँ, भाव, विचार

कर्म उत्पन्न किये जा सकते हैं। इसका दुरुपयोग और सदुपयोग दोनों ही सम्भव हैं। मानस-चिकित्सा (*Psychiatry*) में कहीं कहीं अभी भी इसका प्रयोग किया जाता है, यद्यपि इस प्रकार के इस्तेमाल का यह दोष सर्व स्वीकृत है कि रोगी की इच्छा-शक्ति और बुद्धि दुर्बल हो जाती है। डाक्टर फ्रायड (*Dr. Freud*) ने इसी कारण अपनी चिकित्सा-पद्धति में सम्मोहन के स्थान पर अनियन्त्रित प्रत्यय प्रवाह (*Free Association*) की नई विधि का प्रयोग प्रारम्भ किया था। 'प्राणाहुति' सम्मोहन से अत्यन्त भिन्न है। यद्यपि इच्छा-शक्ति का उपयोग दोनों में होता है, किन्तु सम्मोहन की सफलता के लिए सम्मोहित व्यक्ति की इच्छा-शक्ति का दुर्बल बना रहना आवश्यक है, जब कि 'प्राणाहुति' द्वारा अभ्यासी की बुद्धि और इच्छा-शक्ति उत्तरोत्तर विकसित होती जाती है, यहाँ तक कि प्रकृति के साथ तादात्म्य की स्थिति में पहुँचने पर इच्छा-शक्ति आदमनीय (*unfailing*) हो जाती है, और विबोध सीमाओं के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। सम्मोहन की योग्यता तो कोई भी प्राप्त कर सकता है, क्योंकि उस के लिए अपने से दुर्बल इच्छा-शक्ति वाले व्यक्ति की आवश्यकता होती है, जो बिना बुद्धि का उपयोग किये सम्मोहक द्वारा दिये गये प्रक्षेप स्वीकार करता चले। किन्तु 'प्राणाहुति' की योग्यता तो विरले व्यक्ति को ही प्राप्त होती है। यह सच है कि इच्छा-शक्ति के प्रयोग द्वारा किसी को सुला देना, उस में विभिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न कर देना, नशे की सी हालत पैदा कर देना, विचारों को रोक देना आदि सम्भव हैं। किन्तु ब्रह्म-विद्या के शब्द-कोष में इसे चमत्कार-प्रदर्शन मात्र कहा जायेगा, और इस प्रकार की 'प्राणाहुति' को निकृष्ट और स्थूल ही कहा जायेगा: वास्तव में इसे 'प्राणाहुति' की अपेक्षा 'शक्ति-संचार' का ही एक रूप कहना अधिक उचित होगा, जिसे भौतिक नियमों में बाँधकर समझा जा सकता है। जो प्राणाहुति अध्यात्म और ब्रह्म-विद्या के प्रशिक्षण का साधन है, वह इतनी सूक्ष्म प्रक्रिया है कि साधारणतः प्रारम्भिक अवस्था में

अभ्यासी को तथा अन्य लोगों को भी कोई ऐसा स्थूल और बाह्य परिणाम दिखाई नहीं पड़ता, जो चित्त को चमत्कृत कर के विश्वास को दृढ़ता प्रदान कर सके। किन्तु इस के द्वारा अभ्यासी की आध्यात्मिक प्रगति में बाधक अनावश्यक बातें दूर होती जाती हैं; और अभ्यासी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व सन्तुलित (*Balanced*) स्थिति के लक्ष्य की दिशा में उत्तरोत्तर विकसित होता जाता है। इस प्रगति का अनुमान सच्चा अभ्यासी अपनी बहुत पहले की हालत से अपनी वर्तमान हालत की तुलना कर के कर सकता है। उसे चित्त की उत्तेजना और अस्थिरता, मन की मलिनता और उस पर बोझ का सा अनुभव तथा अहंभाव आदि में उत्तरोत्तर कमी; और इन्द्रियों की सात्विक स्फूर्ति, स्वभाव की सौम्यता, इच्छा-शक्ति की दृढ़ता तथा चित्त की उतार-चढ़ाव-हीन प्रसन्नता आदि में उत्तरोत्तर वृद्धि का अनुभव होगा।

'प्राणाहुति' की योग्यता वास्तविक सद्गुरु में ही पाई जाती है। पिछले अंक में वास्तविक सद्गुरु के स्वरूप पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि सच्चा सद्गुरु अहंता से शून्य होकर लोक सेवा द्वारा अपने प्रियतम अनन्त लक्ष्य की प्राप्ति में संलग्न रहता है। उस का प्राण दूसरों के दुःख को दूर करने के लिए उफनता है। ऐसे ही सद्गुरु को 'प्राणाहुति की योग्यता प्राप्त होती है। यह शक्ति तो उसी का भाग है, जिसे किसी भी शक्ति की आवश्यकता न रह गई हो; इस निधि पर तो उसी का स्वत्व हो सकता है, जो अपने पास कुछ भी न रखना चाहता हो। सच ही है कि दूसरे को एक निगाह में सब कुछ प्रदान कर देने की योग्यता उसी को मिल सकती है जिस ने एक निगाह में सब कुछ दूसरों को दे डालने वाला दिल पैदा कर पाया हो। इस अनुपम योग्यता को प्राप्त करने की इच्छा रहना तक इस की प्राप्ति के मार्ग में बाधक है; और यह बात सभी उच्चतर आध्यात्मिक स्थितियों के विषय

में सत्य है :—

ईं सआदत बज़ोरे-बाज़ू नेस्त, गर न बख़्शद ख़ुदाए-बख़्शिदा ।

[यह उच्च स्थिति बाहु-बल से ही प्राप्त होना सम्भव नहीं, यदि सब कुछ प्रदान करने वाला वह परम तत्व इसे प्रदान न कर दे ।]

यह भाषा आधुनिक विज्ञान के लिए रहस्यपूर्ण अवश्य है, किन्तु आध्यात्मिक साधना का जो लक्ष्य है, उसे ध्यान में रखने पर इसे समझना कठिन न होगा । आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य उत्तरोत्तर अहंता का क्षय है, अतः यदि अभ्यास द्वारा सब कुछ प्राप्त हो जाये, तो यही बात अहंता को दृढ़ करने का एक साधन बन जायेगी, और साधना के लक्ष्य की प्राप्ति अधिक कठिन हो जायेगी । अतः 'प्राणाहुति' की योग्यता की प्राप्ति के लिए यही आवश्यक है कि अहंता इस हद तक मिट चुकी हो कि उस के मिटने का ख़याल भी न रहे (क्यों कि यह भी अहंता को बल प्रदान कर सकता है); और ऐसी स्थिति में अन्य प्राणियों की आध्यात्मिक सेवा इस भाव से हो कि इस प्रकार सेवा का अवसर प्रदान कर के वे उस प्रियतम परम लक्ष्य को पूर्णतः प्राप्त करने में सहायक हैं, जिसे सेवक पूर्णतः समर्पित हो चुका है । ऐसी कोमल और हल्की चीज़ अत्यन्त दुर्लभ है, यद्यपि दम्भ और अहंकार से युक्त जाने कितने तथाकथित महात्मा एक न एक चमत्कार-प्रदर्शन कर के 'प्राणाहुति' की योग्यता रखने का दावा करते हैं । जन साधारण को गेहूँ जौ की पहचान नहीं, और आधुनिक मनोविज्ञान को इस क्षेत्र में अन्वेषण के उद्देश से कदम रखने में शर्म आती है । परिणाम स्पष्ट है कि धर्म और अध्यात्म के नाम पर अन्ध-विश्वास और हर तरह की धोखेबाजी का बोल बाला है; तथाकथित गुरु और महात्मा स्वयं किसी दीन के नहीं रहे, और अपने अन्धे शिष्यों और भक्तों के आध्यात्मिक विकास की सम्भावनाएँ चौपट कर दीं । ऐसी स्थिति में दुराग्रह-शून्य परिष्कृत

बुद्धि के विद्वानों और वैज्ञानिकों का कर्तव्य स्पष्ट है ।

प्राचीन काल में बहुधा स्पर्श और शब्द द्वारा शक्ति-संचार की विधि प्रचलित थी । किन्तु 'प्राणाहुति' की प्रक्रिया में वास्तविक महत्व की वस्तु सच्चे सद्गुरु की इच्छा-शक्ति का प्रयोग ही है । शब्द विचार की अभिव्यक्ति का साधन होता है, अतः उसका प्रयोग करने पर 'प्राणाहुति' कुछ अधिक शक्तिशाली हो जाती है । दूसरे शब्द का प्रयोग करते समय सद्गुरु के चित्त की एकाग्रता में भी वृद्धि हो जाती है, जिस से प्राणाहुति अधिक तेज़ हो जाती है । स्पर्श अधिकाँश अभ्यासी के अनुभव को जगा देने में सहायक होता है । स्पर्श द्वारा प्राणाहुति के समय सद्गुरु माँसपेशियों आदि को विचार की क्रिया में सहायक बना लेता है । किन्तु सहज मार्ग साधना पद्धति की 'प्राणाहुति' में तो सच्चा सद्गुरु विचार की एकाग्रता और इच्छा-शक्ति के प्रयोग द्वारा अभ्यासी के हृदय (केन्द्र) में आध्यात्मिक स्थितियों का उत्तरोत्तर संचार करता जाता है । इस प्रकार की प्राणाहुति की सूक्ष्मता और लालित्य सचमुच वर्णनातीत हैं ।

—सम्पादक

भजन

फागुन के दिन चार होरी खेल मना रे ॥
बिन करताल पखावज बाजै, अणहद की झणकार रे ।
बिन सुर राग छतीसूँ गावै, रोम—रोम रणकार रे ॥
सील सँतोख की केसर घोली, प्रेम-प्रीत-पिचकार रे ।
उड़त गुलाल लाल भयो अम्बर, बरसत रंग अपार रे ॥
घर के सब पट खोल दिये हैं, लोक—लाज सब डार रे ।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, चरण कँवल बलिहार रे ॥

—मीराबाई

कर्म

(समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़)

(क्रमागत)

कर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) उचित; (२) अनुचित। जिनसे अपने को सुख मिले वह उचित और अपने को सुख न मिले वह अनुचित हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में चोरी और डाका डालने से वास्तविक प्रसन्नता मिलती है या नहीं। यदि सुख मिलता है और दुख नहीं होता तो जो जी में आवे किया करे, कोई किसी को मना नहीं करता। परन्तु असल बात तो यह है कि प्रारम्भ में अपनी नादानी से कोई भले ही उनको सुख मान ले, किन्तु इन सब कामों का परिणाम बुरा और दुख का कारण होता है। हम आजकल जिस वातावरण में निवास करते हैं वह पाप और पुण्य के विचार से परिपूर्ण है। एक तो उसका प्रभाव स्वयं विश्व में व्याप्त हो रहा है, दूसरे चोरी और हत्या करने वालों में हर व्यक्ति स्वयं पाप-पुण्य के विचार से प्रभावित है, इस लिए ऐसा काम साहस के साथ नहीं होता, चोरी छुपे किया जाता है; और जब यह हाल है तो बुराई करने वाला पहले खुद अपने दिल में बुरा बन लेता है, तब किसी दूसरे के साथ बुराई करता है। बुराई दिल को अपवित्र, गंदा और ठोस बनाती है। अपवित्रता, गंदगी और ठोसता से दुख होता है और सुख किसी को भी नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि जिस व्यक्ति को दुख पहुँचाया जाता है वह दुख अनुभव करता है, उसके दिल से दुःख की धार निकलकर दुख पहुँचाने वाले को दुखी करती है। इस बात को देख लो कि पड़ोस में कोई व्यक्ति दुखी है तो तुम

किसी हालत में उसके दुख के असर से नहीं बच सकते। यह दुःख ज़हरीली लकड़ी का धुआँ है, किसी घर में उसको जलाओ, पड़ोसियों के घर तक उसकी कड़ुवाहट पहुँचेगी। इसी तरह नेकी का भी हाल है। यदि तुम नेक हो तो तुम्हारे इर्द गिर्द के लोग उससे अवश्य सुख का लाभ प्राप्त करेंगे। यह दुनिया वास्तव में हमारे शरीर के समान है। यदि एक अंग को तकलीफ पहुँचे तो सारा शरीर उससे प्रभावित रहता है, अतः अच्छे आदमी बदी से दूर रहते हैं, और नेकी की ओर झुके रहते हैं। यह सीधी सादी बातें हैं।

जिस काम के करने समय डर, झिझक और लज्जा आये वह पाप है; और जिसके करते समय निर्भयता, साहस और हिम्मत हो वह पुण्य है। किन्तु शिक्षा, आंतरिक प्रेरणा, सामाजिक सद्व्यवहार और अभ्यास का भी प्रभाव शामिल रहता है। किन्तु यह शिक्षा, यह सिद्धान्त और यह सद्व्यवहार आदि अधिकतर नेकी के ही प्रभाव के अन्तर्गत प्रचलित किये गये हैं। अतः ऐसा कोई काम न करना चाहिए जो उनके विरुद्ध हो। और जिन बातों पर धर्म, गुरु, शास्त्र और हृदय एकमत हों वह उचित हैं, और जिनमें विरोध हो, अनुचित हैं। बुरी बातों में धर्म, गुरु, शास्त्र और अपने हृदय का सम्मिलित रूप से कभी मतैक्य नहीं होगा, यह उचित और अनुचित काम की कसौटी है। यदि यह न मान सके तो इस सिद्धान्त का पालन करना चाहिए कि जो अपने लिए न पसंद हो उसे औरों के लिए भी न पसंद किया जाये।

बहुत से ऐसे कर्म होते हैं जिनके करने से न पाप होता है और न पुण्य होता है। उदाहरणार्थ--नित्यप्रति का नहाना-धोना, मुँह हाथ की सफाई करना, किन्तु इसके न करने से स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ने का भय रहता है। दूसरे बुजुर्गों का आदर—सम्मान न करने से पुण्य तो कोई नहीं होता, पाप अवश्य होता है, क्योंकि सामाजिक सद्व्यवहार की नियमावली (code) में इनकी आवश्यकता स्वीकार

कर ली गई है और उनका पालन न करने से सांस्कृतिक पहलू का सौंदर्य नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार लोक-वेद और कुल-रीति आदि हैं। यह सब भी उचित कर्म हैं। यज्ञ आदि करना वास्तव में बंधन और पाबन्दी की ज़जीरें नहीं हैं। ज़ंजीर हार्दिक, विचार-सम्बन्धी, काल्पनिक और विश्वास के सिलसिले में है।

यज्ञ वास्तव में पूजा को कहते हैं। सहायकों, बुजुर्गों, मातहतों और छोटों को अपने व्यवहार और तौर तरीके से खुश करना; अपने इर्द-गिर्द के दृश्य को सुन्दर बनाये रखना; अग्नि वायु, जल, पृथ्वी और आकाश को यथा संभव गंदा न करना—ये सब के सब यज्ञ हैं और जीवन की प्रारम्भिक स्थितियों में इनकी पाबन्दी आवश्यक है। ये ख़राबी के कारण नहीं होते। हाँ, अन्य प्रकार के यज्ञ जो किसी इच्छा या नियम के प्रभाव के अन्तर्गत किसी व्यक्ति या संस्था को हानि पहुँचाने के इरादे से किये जाते हैं—उन पर आक्षेप हो सकता है। कर्म का अर्थ तो केवल जीवन की अभिव्यक्ति है। यदि जीवन अपनी अभिव्यक्ति प्राकृतिक रूपमें बिना किसी को हानि पहुँचाये हुए कर रहा है तो उसे करना चाहिये, इसमें पाप पुण्य नहीं है। जिस सम्बन्ध में तत्सम्बन्धी हालत नेकी-बदी का पक्ष लिये हुए शामिल होती हैं वहीं पाप पुण्य होते हैं। और ये पाप और पुण्य बन्धन और पाबन्दी की ज़ंजीर गढ़ते हैं जिससे मुक्ति प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। अन्यथा बन्धन और मुक्ति का ख़याल भी दिल में न पैदा होता। इससे बचने का उपाय यह है कि पहले बदनियती (दुर्भावना) को खुशनीयती (सद्भावना) में बदल कर काम करना और फिर उसके अभ्यास के सिलसिले में निस्वार्थ भाव से संसारी जीवों की सेवा करना ही सर्वोत्तम यज्ञ, पूजा, रियाज़त (तप) और इबादत (उपासना) है:—

इबादत बजुज़ ख़िदमते-ख़ल्क़ नेस्त।
[लोकसेवा के अतिरिक्त और कोई उपासना नहीं है]

जो व्यक्ति ऐसा कर्म करेगा वह कर्म के बन्धन से छूट जायेगा। ऐसा कर्म स्थूल शरीर का धर्म है।

शुभ और अशुभ फल अज्ञानियों को मिलता है। समझ बूझ रखने वालों को ही अज्ञानी कहते हैं। जिनको समझ बूझ नहीं है वह अज्ञानी नहीं कहलाते ; उनके लिए तो 'मूढ़जन' शब्द प्रयोग किया जाता है। जिनमें समझ बूझ की बाह्य रूप से कमी नज़र आती है वह 'मूढ़' कहलाते हैं: वह अभी तक पशुत्व के क्षेत्र से आगे नहीं बढ़े हैं। बाकी यह तमाम आलिम-फाजिल (विद्वान); राजा-प्रजा, अमीर-वजीर, राजनीतिज्ञ, भाषा—शास्त्री और बाल की खाल निकालने वाले सब अज्ञानी हैं जो स्थूल देह के क्षेत्रों पर स्थित हैं। जीवन के साधारण कारोबार और शारीरिक तथा दिली कारोबार तक अपने आप को सीमित कर लेते हैं तथा शारीरिक प्रभाव और हृदय सम्बन्धी विचार और अनुभव की पाबंदियों और नियमावलियों के असर को पक्का करते रहते हैं और उन्हीं की समझ-बूझ की उलझन में पड़े रहते हैं: उनके लिए यह 'अज्ञानी' शब्द उचित है। यह सब लोग चाहे वह पुजारी, उपासक, तपस्वी और साधु ही क्यों न कहे जायें, अज्ञानी हैं। उन्हें शरीर के उपासक, इच्छा के उपासक और अनेकता के उपासक कहते हैं। स्थूल शरीर का संसार अनेकता का क्षेत्र है। उनकी नज़र सदैव इसी पर रहती है; यहाँ तक कि धार्मिक और तपस्वी भी स्थूल शरीर और इच्छाओं के संसार के अतिरिक्त और किसी का ख़याल तक नहीं रखते। उनका स्वर्ग इच्छाओं की उपासना का स्थान और भोग-विलास का केन्द्र मात्र है। यदि इच्छा का अन्तिम लक्ष्य स्वर्ग हो तो समझ लेना चाहिये कि वह उसको भी दुनिया की सूक्ष्म नक़ल समझ रहे हैं और उसी की कामना को दृढ़ करने में लगे हैं। अतः यह समझ-बूझ वाले अज्ञानी कहलाते हैं। जिनमें लोक-परलोक का विश्वास दृढ़ किया जाता है, उन्हीं को अज्ञानी कहा जाता है। लोक और परलोक दोनों ही अनेक

भाव के जगत हैं।

धर्मात्मा और ईश्वर के भक्तों में एक तो किसी को ईश्वर का ज्ञान नहीं, दूसरे उन का ईश्वर और कुछ नहीं केवल बड़े आदमी की हैसियत रखता है। इन लोगों की स्तुति और प्रार्थना के शब्दों पर ध्यान दो तो कोई उसको हाकिम, जाबिर, न्यायी (आदिल) आदि कहता है कोई रहीम करीम, दयालु, कृपालु आदि कहता है—यह सब गुण मनुष्य के ही हैं। तीसरे यह लोग ईश्वर को ईश्वर की दृष्टि से नहीं देखते बल्कि खुशामद और चापलूसी करते हुए उसे कामनाओं की पूर्ति का आनंद प्राप्त करने का साधन समझते हैं। इसी खुशामद और चापलूसी का नाम किसी ने उपासना रख दिया है, और कोई उसे भक्ति कहता है।

"आबिद की दुआ और मुनाजात को सुनो,
भक्तों की स्तुति और प्रार्थना सुनो—
ऐ खालिके—हर बलन्द-व-पस्ती।—"वगैरः
"ईश्वर तू है जगत का दाता, दया का मुझको दान मिले,
काम मिले व धन-धाम मिले, सुख भोग मिले. सम्मान मिले॥
दे बैकुन्ठ में वासा स्वामी, नाम तेरा मैं भजता हूँ
धर्म मिले और अर्थ मिले, अरु जीवन में कल्याण मिले॥"

यह और इस प्रकार के लोग अज्ञानी, फना-फिल-कसरत (अनेकता के संसार में लीन) हैं। इन्हीं के लिए शुभ और अशुभ फल का सिद्धांत है, और इन्हीं के लिए धर्म और कर्म का विधान है।

—:❀:०:❀:—

[अगले अंकों में इस लेख के आगे का 'अध्यात्म' शीर्षक लेख क्रमशः प्रकाशित होगा।]

इल्म और अमल

(श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन)

इल्म (विद्या) गर्व की वस्तु है किन्तु उसको अपनी हिम्मत बढ़ाने के काम में लाना चाहिये। इल्म बेकार है यदि उसको अमल (अभ्यास) का जामा न पहनाया जावे—

बिसियारिये-इल्म फायदा नेस्त, हरगाह कि दर अमल नयारी।
चूँ बर न कशी बरूये-दुश्मन, बेकार बजार तेगदारी॥

[विद्या का बाहुल्य व्यर्थ है, यदि तू उसे कार्य रूप में न लाये। जब शत्रु के सामने उसे तू बाहर न खींचे, तो हजार तलवारें रखना व्यर्थ है]

मैंने तो भाई अमली-मैदान में आने पर इस चीज़ की तरफ ध्यान ही नहीं दिया। वजह यह भी थी कि मुझे इतनी फुरसत ही कहाँ थी जो किताबों के पन्नों को चाटना शुरू करता। यदि मेरी एक टाँग कमज़ोर है तो मैं दूसरी टाँग से दोनों का काम ले लेता हूँ, किन्तु केवल इल्म से मतलब रखने वालों की एक टाँग मजबूत है परन्तु वह दूसरी को सहारा नहीं देती, अतः लँगड़ेपन का दोष आ जाता है। और यदि यह कहा जाये कि उनके सिर्फ एक टाँग है तो बात मज़ाक की हद तक पहुँच जावेगी। यदि स्वयं अमल करने का होश न आये तो मेरे ही होश से काम लिया जा सकता है, जिस के लिए लगाव की ज़रूरत है। ख्याल में जिससे लगाव पैदा होता है, उसी में यदि इंसान जज्बा (भावना) पैदा कर ले तो प्रेम भी शुरू हो जाता है। भक्ति वालों से यह चीज़ अपनी असली हालत में सीखना चाहिये; और उसमें से जौहर (असल तत्व) निकाल लेना

चाहिये। हमें तो एक बच्चे से भी एक उम्दा बात मिल सके तो गृहण कर लेना चाहिए। लाभदायक विधियाँ बहुत सी हैं, किन्तु लोग उनको दो-दो चार-चार रोज़ करके छोड़ देते हैं। किसी एक को पकड़ कर बैठ जायें और फिर मज़ा देखें। एक कातिल अपने बचने की तरकीब खुद ढूँढ़ लेता है, पूछता नहीं फिरता, इसलिए कि कहीं ऐसा न हो कि उसके बचाव की तरकीबें खुल जावें। एक अपराधी यही प्रयत्न करता है कि अपने अपराध को कैसे छिपाये। चीज़ बुरी है या अच्छी इससे मतलब नहीं, मतलब इससे है कि अपने बचाव में खुद उसका हिस्सा होता है।

अतः लोगों को चाहिए कि खुद ही ग़ौर करें। नुस्खा क़रीब ही मिलेगा। मगर जब तक तबियत में घाव नहीं लगता दूसरे को मरहम की फिक्र नहीं होगी।

इल्म वह है जो ईश्वर की पहचान कराये। वह इल्म किस काम का जो ईश्वर से दूर कर दे। मैं तो भाई उसको 'एलम' ही कहूँगा। यह शब्द वास्तव में गलत है और इसको निरक्षर और बाजीगर लोग इस्तेमाल करते हैं। जन्तर-मन्तर वाले जो जाहिल होते हैं 'इल्म' कहने के बजाय 'एलम' कहते हैं: अतः दूसरों को धोखा देने में या अपने आप को धोखा देने में या अपने आप को पुजवाने में या ऐसा उपदेश देने में जिसका खुद अभ्यास न किया जाये इत्यादि-इस कला को मैंने 'एलम' कहा है। और आलिम-बे-अमल, क़ाबिल-बे-क़बूल[1], गन्दुम-नुमा जौ-फरोश[2]-सब 'एलम' ही जानते है इल्म नहीं जानते हैं। वह इल्म किस काम का जो ईश्वर को पहचानने की ओर प्रेरित न करे। यूं चीख-पुकार तो सियार भी कर लिया करते हैं, और मुर्ग़ भी सवेरे बाँग दे लेता है।

धार्मिक-इल्म से मैं परिचित नहीं यद्यपि यह भी एक साल में पढ़कर सीखा जा सकता है। मगर साथ ही

१—यह वाक्यांश मेरा गढ़ा हुआ है। इसका अर्थ-एक विद्वान और होशियार व्यक्ति है किन्तु ईश्वर ने जिसको स्वीकार नहीं किया।
२—गेहूँ दिखला कर जौ बेचने वाला मिथ्याचारी।

ख्याल यह भी है कि इतना समय आप लोगों की उपज में, और अपना कर्तव्य पूरा करने में क्यों न लगा दूँ, जिससे ईश्वर भी खुश हो। और भाई सच तो यह है कि मैंने अपने आप को इतना गिरा दिया कि आलिम मुझे जाहिल समझने लगे और ख्वामख्वाह मैं इल्म की कमी अपने में महसूस करने लगा। वजह इसकी यह भी हो सकती है कि दूसरों को इस प्रकार से बड़ाई देना और खुश रखना था। वरना यह भी कहा जा सकता है कि मुझमें इल्म की कमी नहीं क्योंकि गुरू महाराज ने अपना इल्म भी मुझे Transmit किया है और उन्हीं के नाम पर किसी को भी किया जा सकता है। हाँ पारिभाषिक शब्द मुमकिन है कि न हों। बात बड़ी होगी और ऐसा मुझे कहना भी न चाहिये। किन्तु किसी कारण लिखना आवश्यक है कि लोग वेद मुझसे पढ़े और सीखें। तब मेरे गुरू महाराज के बड़प्पन का पता चलेगा कि वह क्या नहीं कर सकते थे:—

कीड़ों ने हज़ारहा किताबें खा लीं, पाई न मगर फ़ज़ीलत की सनद[3]।

कई रोज़ से मैं लिखा रहा हूँ इसलिए कि भूले-भटके मुसाफ़िर को यह चिराग़ का काम करे। नतीजा ईश्वर के हाथ है, लिखे तो मैं जाता हीं हूँ। मैंने कभी ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की कोशिश ही नहीं की, मैंने तो तमाम उम्र अपने गुरू को पहचानने की कोशिश की है— इसलिए संभव है कि ज्ञानी लोगों को या विद्वानों को यह पसंद न आवे। मगर भाई हक़ीक़त (असलियत) से मैं एक क्षण भी नहीं हटता और न मेरी तहरीर (लेख) उससे खाली होती है। किसी को आखिरत (अन्तिम लक्ष्य) की फ़िक्र है और मुझे इस बात की फ़िक्र है कि मेरे पास जो कुछ भी है वह सबका सब कोई ले लेवे। यदि कोई ऐसा करने पर उतारू हो जाये तो मैं यही समझूंगा कि मैं बख्श दिया गया, इसलिए कि ऐसी हालत में बहुत कुछ ऋण-ऋण से उद्धार हो सकूँगा। बिल्कुल अपना सा बनाने के लिए मुझमें क़ाबिलियत कहाँ और मुमकिन है बन भी न सके। यह क़ाबिलियत

३—बड़प्पन का प्रणाम-पत्र

तो सिर्फ़ मेरे गुरु महाराज में ही है। किन्तु साथ ही साथ मैं यह ज़रूर चाहता हूँ कि कोई भी ऐसा मिल जाये कि जिससे अपने दिल के वलवले निकाल सकूँ। ईश्वर देगा, उम्मेद जरूर है।

एक बात बड़े काम की यह है कि दुनिया में जितनी तरक्की हुई है, **Power of observation** (निरीक्षण की शक्ति) से ही हुई है। अतः इस अध्यात्म विद्या में भी जितनी ही निरीक्षण-शक्ति अभ्यासी बढ़ाता जायेगा उतना ही कुदरत (प्रकृति) का इल्म उसको प्राप्त होगा। और मुझे मजा भी ऐसे ही आदमी की तालीम में आता है। अब इसका तरीका क्या है? यह पढ़े लिखे लोग सब जानते हैं; किन्तु जब मैं किसी से कहता हूँ कि निरीक्षण और अनुभव की शक्ति बढ़ाओ तो वह यही कहता है कि कोशिश करता हूँ मगर अनुभव नहीं होता। मेरी समझ में नहीं आता कि वह कोशिश कैसी जिससे इच्छित परिणाम की प्राप्ति न हो। हम जब अपने घर के मामले सोचते हैं तो उसकी छोटी से छोटी बातें खूब समझ में आ जाती हैं। बात क्या है कि उसमें हम पूर्ण रूप से लग जाते हैं, यहाँ तक कि जब तक उसका हल नहीं मिल जाता हमको चैन नहीं पड़ता, इसलिए कि वह चुभन दिल में होती है। अभ्यासी जब अपनी हालत नज़र में रक्खे और देखे तो मुमकिन ही नहीं कि पढ़े लिखे आदमी की समझ में न आ जावे। हर हालत पर अगर एकाग्र-चित्त हो कर साथ ही साथ अमल भी करता चले तो मुमकिन ही नहीं कि निरीक्षण असल अनुभव न करा दे। मगर भाई यह बातें सब शौक़ पर निर्भर हैं। शौक़ भी एक बहुत बड़ा उस्ताद है:—

फ़ासला कूचा-ए-जानाँ का न मुझ से पूछो।
जैसा मुश्ताक़ हो—नज़दीक भी है, दूर भी है॥

[प्रियतम की गली की दूरी की बात मुझसे न पूछो। जिसमें जितना शौक़ हो उसी के अनुसार वह निकट भी है, दूर भी है।]

—एक अभ्यासी के पत्र से उद्धृत

अनन्त यात्रा

[इस स्थायी स्तम्भ का उद्देश्य साधकों की आध्यात्मिक प्रगति का विवरणात्मक चित्र प्रस्तुत करके बृह्म-विद्या को सुव्यवस्थित वैज्ञानिक अध्ययन के लिए सुलभ करना है। एतदर्थ श्रद्धेय 'बाबू जी' के साथ एक श्रेष्ठ एवं संवेदनशील अभ्यासी के पत्र-व्यवहार का क्रमशः प्रकाशन किया जा रहा है। पत्रों के केवल वही भाग प्रकाशित किये जा रहे हैं, जो आध्यात्मिक स्थितियों के अनुभव से सम्बन्धित हैं। अभ्यासी का नाम आदि व्यक्तिगत बातें प्रकाशित नहीं की जा रही है। —सम्पादक]

(क्रमागत)

(पत्र संख्या ३६)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय श्रीबाबूजी,

सादर प्रणाम।

कृपा-पत्र आपका मिला, पढ़कर प्रसन्नता हुई। आपकी आज्ञानुसार जीवनी लिखना प्रारम्भ कर चुका हूँ, परन्तु मैंने उसे बहुत छोटा कर दिया है। आपके पत्र से मालूम होता है कि आप विस्तृत चाहते हैं इसलिए अब ऐसा ही लिखना आरम्भ कर रहा हूँ।

परम स्नेही श्रीबाबूजी, न जाने मुझे क्या हो गया है कि ऐसी तबियत चाहा करती है कि छोटा सा बालक बन कर आपकी गोद में खेला करूँ, और हृदय में इस बात की लहरें सी उठती हैं। जब मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं छोटा सा बच्चा बना आपकी गोदी में लेटा हूँ तो दशा बिल्कुल ही Thoughtless सी हो जाती है और इसके अतिरिक्त तबियत में न जाने कैसा सुहावनापन हो जाता है जो

मेरी समझ से बाहर है। एक बात यह है कि कभी कभी थोड़ी देर के लिए ऐसा लगता है कि मैं सबमें फैल सा गया हूँ। और कोई दशा न समझ में आती है और न प्रयत्न ही कर पाता हूँ।

आपकी दीन, हीन, सन्तान

.....

(पत्र संख्या ३७)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय श्रीबाबूजी,

सादर प्रणाम।

कृपा-पत्र आपका पूज्य.....के लिए आया—सुनकर बहुत प्रसन्नता हुई किन्तु कुछ खेद भी हुआ। यह पढ़कर कि आपने लिखा है कि 'आप लोगों ने मुझे गिरवीं रख लिया है', प्रसन्नता हुई, परन्तु अभी खरीद नहीं पाया है इस बात का खेद हुआ; और अब यह फैसला 'मालिक' पर है कि हमने आपको गिरवीं रक्खा है या आपने ही हम सब को रक्खा है। अभी गिरवीं रखने का ही मामला है क्यों कि यदि हम बिक ही चुके होते तो अहंभाव समाप्त ही हो गया होता जैसा कि आपने समझाया था कि 'मैं' कहते समय इसका भान न रहे कि यह 'मैं' शब्द किसने कहा। हाँ धीरज इसमें है, कि मालिक के हाथों बिकने की कोशिश अवश्य है; और कभी कभी कुछ दिनों को ऐसी दशा हो भी जाती है।

आजकल तो आत्मिक-दशा यह है कि 'ईश्वर की याद' आती है या नहीं इसका पता ही मुझे नहीं लगता है। प्रयत्न करके बार बार याद करता हूँ परन्तु थोड़ी देर में ही ऐसा लगता है कि फिर भूल गया। असली बात तो यह भी है कि यह याद नहीं रहती कि 'प्रभु' की याद थी या नहीं। इस विश्वास से तो धीरज होता है कि याद थी परन्तु इस प्रश्न से बेचैनी होती है कि याद नहीं थी। बार बार

भौचक्का हो जाना, यह दशा बढ़ रही है। एक बात कुछ यह हो गई है कि जब कभी रात में यह ख्याल करता हूँ कि आज दिन भर क्या किया तो यह याद ही नहीं आता कि क्या किया? यह बिल्कुल भी पता नहीं लगता कि मैंने कुछ किया भी है। मेरे 'श्रीबाबूजी' मेरी नींद कुछ दिनों से ऐसी बढ़ गई है कि रात भर खूब गहरी नींद में सोता हूँ और कुछ मिनटों के लिए दिन में भी सोता हूँ। परन्तु दोनों बार जब सोकर उठता हूँ तो ऐसा लगता है कि न मालूम किस देश से आया हूँ जो सब कुछ भूल गया हूँ। वैसे दिन में भी यह हालत जो सोकर उठने पर होती है, बार बार होती है और अधिक देर तक रहती है परन्तु अब अजीब सा नहीं लगता जैसा कि पहले एकाएक हो जाने पर लगता था। शायद इस दशा से मेरी कुछ जान पहिचान हो गई है अब कुछ दिनों से ऐसा लगता है कि मन न जाने कहाँ रहता है कि कुछ पता ही नहीं लगता है। अस्मात् हम सबको पूजा करवायें यह पढ़कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई परन्तु वे कहती हैं कि यदि आपका मतलब sitting देने से है तो मुझे नहीं मालूम कि कैसे दी जाती है और कहती हैं कि हमें कुछ आता नहीं है।

आपकी दीन, हीन, संतान

.....

(पत्र संख्या ३८)

(श्रीबाबूजी का पत्र)

प्रिय.....

खुश रहो।

पत्र मिला, कुछ कामों में मैं ऐसा व्यस्त रहा कि मुझे तुम्हें पत्र भेजने का मौका न मिला। फैलाव जो तुम्हें मालूम होता है वह दिल

के बीच के मुक़ाम की कैफ़ियत है। इससे यह समझना चाहिये कि तुमने उस हिस्से से अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है जिसके बाद ही ठोस हालत शुरू होती है यानी उसकी सूक्ष्म कैफ़ियत में तुम्हारी पहुँच है, उसमें तुम फैल रहे हो। सम्भव है बहुत जल्द ही इससे ऊँचे जाने की खुशखबरी मिले।

अपने आपको बच्चा समझकर जो मुझसे खेलते हो यह ईश्वरीय ख़याल क़ायम रखने का एक तरीका है। ख़्याल एक ही होना चाहिए रूप बदलने में कोई हर्ज नहीं और ऐसा करने से दिमाग़ को आराम भी मिल जाता है।

मैं पहले पत्र का उत्तर लिख चुका था कि तुम्हारा दूसरा पत्र भी आ गया। अब उसका उत्तर भी लिख रहा हूँ। इस ख़त ने मुझको यह उम्मेद दिला दी कि अब उस हालत के क़रीब हो जहाँ कि लय-अवस्था की सूक्ष्म-गति शुरू होती है। मगर यह सब हृदय-चक्र की हालतें हैं; अभी कुछ सैर इसकी और बाक़ी है। इसके बाद दूसरी इससे बेहतर हालत की खुशखबरी मिलेगी। यह हालत पहले ही चक्र की है अभी बहुत से चक्रों का crossing बाकी है। और इसके बाद ईश्वर जाने क्या २ हालतें हैं, फिर भी छोर नहीं। तुमने जो यह लिखा है कि यह याद नहीं रहती कि मालिक की याद थी या नहीं थी, इस चीज़ का पैदा हो जाना इस बात की दलील है कि उसकी याद आँतरिक-पहुँच चुकी है मगर यह कार्य ईश्वर का है। हमारा काम यही है कि जिस तरह हो उसकी याद रक्खें। हमारे यहाँ अभ्यासी को यदि थोड़ी सी भी लगन लग जाती है तो अनजाने उसकी याद क़ायम ही रहती है। जब हम अपना ख़याल उसमें क़ायम कर देते हैं तो याद तेज़ मालुम होने लगती है। भौचक्के होने का जवाब मैं पिछले ख़त में दे चुका हूँ।

नींद के बारे में जो तुमने लिखा है उससे यह मतलब निकल

रहा है कि तुम सुषुप्ति की हालत में तेज़ जाते हो और आँख खुलने पर यह मालूम होता है कि किसी नये देश से आये हो। इसका मतलब यह है कि तुम सुषुप्ति में जाते हो। वैसे दूसरे आम लोगों को जो गाढ़-निद्रा में जाते हैं जागने पर यह एहसास नहीं होता कि हम कहीं से आये है। इस चीज में लय हो जाना (मगर इसमें कोशिश नहीं की जाती) और फिर उसमें बक़ा (जिन्दगी) की हालत पैदा हो जाना तुरीय का आग़ाज़ है। मगर इसमें अभी बहुत देर है।

तुम्हारा शुभचिन्तक
'रामचन्द्र'

(पत्र संख्या ३९)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय श्रीबाबूजी,
सादर प्रणाम।

कृपा पत्र आपका पूज्य.....द्वारा प्राप्त हुआ—पढ़ कर प्रसन्नता हुई। श्रीबाबूजी, मैं आपसे उऋण नहीं हूँ, एक ग़रीब के लिए इतनी मेहनत कौन करता। आठ, नौ दिन से हालत फिर बदल गई है और पहले से अच्छी है। फैलाव व भौचक्कापन अब बिल्कुल नहीं मालूम होता, हाँ नींद में कुछ गाढ़ापन और आ गया है। कुछ ऐसा है कि रात को सोने में जितना मज़ा आता है उतना sitting में भी नहीं आता। आपने इसका कारण तो लिख दिया है। 'मालिक' की याद के विषय में जो आपने लिखा है वह तो अब शायद छूटना कठिन है। चाहे जैसे भी करूं याद तो करनी ही पड़ेगी, नहीं आती तो ज़बरदस्ती ही सही। आपने लिखा है कि अभी बहुत से चक्रों की crossing बाक़ी है परन्तु मेरी समझ में तो जब केवट मिल गया हो तो cross होने में कोई कठिनता नहीं वरन् मार्ग बड़ी आसानी और मस्ती से पार हो जायगा। जब आप यह लिख देते हैं कि ईश्वर जाने क्या २ हालतें हैं उसके बाद उसका छोर भी नहीं है तो इससे मेरे मन में बड़ा लालच और उत्साह बढ़

जाता है। तबियत तो मैं अपनी अपने मालिक को अर्पित कर चुका हूँ अब जो उसकी मर्ज़ी हो, करे। एक बात मेरे में कुछ ऐसी हो गई है कि जो बात मन में जैसी आती हैं वैसा ही मुँह से निकल जाती है, मुझे पता नहीं लगता। आज दशा में कोई अन्तर मालूम पड़ता है परन्तु समझ पाने पर ही आपको लिखूँगा।

आपकी दीन, हीन, संतान

.....

(पत्र संख्या ४०)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय श्रीबाबूजी,

सादर प्रणाम।

यहाँ सब कुशलपूर्वक हैं आशा है आप भी सकुशल होंगे। 'मालिक' की अहेतु की कृपा और 'आप' तथा पूज्य..... के परिश्रम से मेरी आत्मिक-दशा अच्छी ही है। वैसे तो तबियत में न खुशी मालूम होती है और न कुछ दुःख ही है, अजीब सी दशा है। इधर चार, पाच दिन बड़ी बेचैनी रही और मन भी बड़ा उचाट सा रहा और अब तो दशा फिर सम हो गई है। छः सात दिन तो पूजा करने को किसी तरह जी ही नहीं चाहता था और यह दशा थोड़ी अब भी मौजूद है, परन्तु पूजा करने की याद बराबर बेचैन व परेशान करती रही। खैर अब तो 'आपका' धन्यवाद है कि कुछ दिन से पूजा में फिर तबियत लगने लगी है, मैं तो बिल्कुल घबड़ा गया था परन्तु अधिक ज़िद्दी होने के कारण जितनी देर तथा जितनी बार पूजा करता था उससे अधिक बार बैठा। कुछ ऐसा भी था कि आपको पत्र डालने की भी तबियत नहीं चाहती थी। बहुत कोशिश से ता:.....को थोड़ा सा लिखना प्रारम्भ किया किन्तु आधा घन्टे तक क़लम पकड़े बैठे रहने पर भी, सोचने पर कुछ बात ही समझ में नहीं आई तो बन्द कर दिया। अब आज जो मालिक की मर्जी हुई लिख दिया है। परन्तु मेरा विश्वास कुछ ऐसा बँध गया है और यह बात मालूम भी पड़ती है कि दशा गिर नहीं रही है और न गिरेगी। क्योंकि मेरा मालिक अहेतुकी कृपा वाला है।

आपकी दीन, हीन संतान

.....

(क्रमशः)

परदेसी

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी)

जान्ह्वी-तट पर बिखरे रजत-कणों से भगवान भास्कर भोले मानवों के साथ क्रीड़ा करते उन्हें भुलावा देते रहते। कभी चाँदी के कण का आभास पाकर इक्का दुक्का आँख बचा कर उन बाल कणों को हाथ में उठा ही लेता। कभी मृगतृष्णा रूपी जल से कोई अपने तृषित कंठ को प्लावित करना चाहता किंतु निराश होकर दो एक सुना ही देता भगवान भास्कर को, परंतु वे तो ठिठोलीबाज ठहरे अव्वल नम्बर के, सुनने से पहले ही झाड़ देते। परन्तु माला के आगे एक न चलती।

वह तो आती रोज ही, किलकारियाँ भरती माता की उँगली पकड़े और घन्टों उस रजत बालु में अनेकों घरौंदे बना बिगाड़ कर खेला करती। तब तक माता फूल-माला व फूल की पुड़ियाँ यात्रियों को गँगा मैया पर चढ़ाने को बेचा करती और उन चढ़े हुए पुष्पों को पुनः गंगा मैया से लेकर नवीन पुड़ियाँ बाँध कर बेचा करती। यही था उसका जीवन क्रम एवं इससे ही जीविका निर्वाह में सहायता मिलती थी उसे।

❀ ❀ ❀ ❀

एक दिन

'माता! परदेसी हूँ स्थान दो विश्राम कर चला जाऊँगा।'

"देख माला द्वार पर कौन पुकार रहा है।"

"जाती हूँ अभी माँ, क्या तुझे और कोई काम नहीं रह गया है जो दिन भर 'जा द्वार पर देख आ, माला, देख आ माला।' कहा करती है। माला बेचारी क्या दो होजाये। एक तो यह गुड्डे का बच्चा दिन भर छोड़ता नहीं और दूसरे माँ का द्वार देखते माला की

तो आँखें दुखी जाती हैं। तिस पर भी कभी जाकर देखो तो कोई जटा बढ़ाये खड़ा डरा रहा है, तो कोई भभूत ही रमाए खड़ा है। उसे बड़ा भय लगता है।

द्वार से पुनः पुकार आई—"कोई है ? परदेसी है माता।"

"जा बहुत बड़बड़ न कर। देख आ कौन पुकार रहा है ?" माता ने पुनः कहा।

"कोई होंगे महन्त बाबा।" और चल पड़ी बेचारी माला द्वारकी ओर।

"आती हूँ, बहुत गला न फाड़ो बाबा।"

किंतु द्वार पर जा कर देखा तो उल्टा निकला। बाबा के स्थान पर खड़ा था एक सौम्य ब्रह्मचारी प्रौढ़ युवक।

"तुम क्या चाहते हो बाबा ?" माला ने गंभीर मुद्रा में हाथ जोड़ कर पूछा।

"बेटी, परदेसी हूँ, थका हुआ हूँ। विश्राम के लिए स्थान व आज्ञा चाहता हूँ।"

माला ने तुरन्त कहा—"न बाबा बिराम तो यहाँ कोई नहीं है फिर क्यों आना चाहते हो।"

अबकी बार युवक मुस्कराया—"बेटी, मैं कोई वैद्य-हकीम थोड़े ही हूँ। परदेसी हूँ, थका हुआ हूँ।"

इतने में भीतर से आती हुई माला की जननी बोली—"पाँय लाँगू महराज। छिमा करना, यह लड़की तो बड़ी बातून है। क्या चाहिये महराज ? क्या लाऊँ ?"

"कुछ नहीं माता, परदेसी हूँ। थोड़ा विश्राम करना चाहता हूँ, फिर चला जाऊँगा।"

माता ने तरबाहे की साँकल खोल दी।

"आओ बैठो, विश्राम लो परदेसी।"

और वह जाकर बिछे हुये पयाल पर बैठ गया।

❀ ❀ ❀ ❀

माला की जननी का यही क्रम चला आ रहा था। कब से ? यह वह स्वयं नही जानती। विवाह से प्रथम माता के यहाँ यही क्रम

था और विवाह के पश्चात् पतिगृह में भी यही रहा।

पति पत्नि का यही नियम था कि दो-दो रोटियों में से दोनों एक-एक बचाकर रख लेते कि संभव है कोई भूला-बिसरा बटोही, साधु महात्मा उनके द्वार पर आ जाये तो वे उन रोटियों से उनका सत्कार कर सके परंतु फिर भी उसका मन ऊबा ऊबा सा रहता था। किसी भी काम में उसका चित्त दत्त न हो पाता। करने को तो वह सब ही करता। माला बनाता, दूध बेचता, गंगा पर चढ़ाने को। परन्तु जी न लगता। किसी ने कहा—बच्चा द्वार आये को सेवा किया करो।" बस तभी से उसके जीवन का यही क्रम चला आ रहा था।

वह अपने उद्यान को भाँति भाँति के पुष्पों से सजाता और उसी में बने हुए कच्चे से छप्पर के मकान में वह और उसकी पति-प्राणा स्त्री प्रसन्नता से निर्वाह करते। विवाह के दो वर्ष पश्चात् माला ने माता की सूनी गोद भी भर दी थी, किन्तु अपने पिता के सूखे वैरागी हृदय में राग के दो बिंदु न ला सकी थी वह निरीह भोली बालिका। यही कारण था कि पत्नि और बालिका की राग-रज्जु उसके पैरों में बेड़ी न डाल सकी और एक दिन वह जाने कहाँ रम गया।

घर में अकेली स्त्री क्या करती। वह नौ-नौ अश्रु गिराती और पति की पद-रज सहेजती। सारी खोज बेकार गई, परदेसी न मिला। विवश हो उसने भी कमर कस ली थी कि अपना जीवन माला के लालन-पालन एवं उस वैरागी के स्मरण में काट देगी। एक समय रूखे-सूखे भोजन में निर्वाह करती। माला के लिए रोटी रक्खी रहती और सिकहरे पर द्वार आये के लिये भोजन तैयार रहता।

❀ ❀ ❀ ❀

"जा माला, एक लोटा जल देआ। बेचारा परदेसी है हाथ मुँह धो कर थोड़ा ठंडा हो लेगा।" और न जाने क्यों उसका ध्यान अचानकही जाकर अटक गया अपने परदेशीके चरणों में। वह तुरंत

उठी। एक लोटे में ताजा रस जो आज ही मालकिन ने आग्रह के साथ दिया था, लाकर रख दिया उसके चरणों के पास और नत-मस्तक छोटा सा घूँघट मुँह पर निकाले हाथ जोड़े वह एक ओर खड़ी हो गई। परदेसी को तो मानों यह सब कुछ पता ही न था वह तो माला से बातें बनाने में व्यस्त था।

"हाँ माला, तुझे मुझसे डर तो नहीं लगता।"

"नहीं, मुझे डर भला काहे को लगता मैं भीरू थोड़े ही हूँ।" उसने किंचित मुख बनाते हुये कहा।

"तू बातों की माला बहुत पिरोती है, इसी लिए तेरा नाम माला पड़ गया।"

"नहीं, माँ कहती है कि माला तो भगवान के कंठ की शोभा है। यदि माला को न धारण करें तो वे भी अच्छे न लगें।

"और माला जानती है ? माला सुमिरनी होती है जिससे प्रभु स्मरण किया जाता है।" परदेशी ने सौम्यता से कहा।

"अच्छा ताजा रस पी लो परदेशी बाबा।' और सच ही चौंक कर उसने रस का लोटा ओठों से लगा लिया। रस पीकर लोटा धरती पर रख दिया और विरक्ति-भाव से पैरे पर लेट गया। माला को लेकर रूपा चली गई घर के अन्दर।

उस रात थोड़ा रस पीकर ही माँ बेटी लेट गई। माला तो तुरन्त ही सो गई परन्तु रूपा के मन में अन्तर्द्वन्द छिड़ा था। उसे नींद कहाँ।

चन्द्रदेव भी अठखेलियाँ करते अकिंचनों के गृह में रूपा बिखेर देते। पुनः भोर होते न होते समेट लेते। क्यों ? क्योंकि वे भी परदेसी थे बेचारे, उन्हें भी जाना था। रूपा विचार मग्न है।

परदेसी ? वही रूप-रंग वही डील-डौल किंतु मुख पर धवल ज्योत्सना, हृदय में अटल वैराग्य। परदेसी आज सोया है अपनी ही सराय के द्वार के तरवाहे में। उसके प्रेम की रुपहली ज्योत्सना रूपा के अन्तर पट पर अंधकार की छाया न पड़ने देती। उसके

पावन प्रेम की चाँदनी ने ही तो रूपा को मोह-तम से सदैव दूर ही रक्खा।

और आज उसका ही अटल अनुराग मानों साकार बन कर परदेसी के रूप में उसके नयनों के समक्ष आया था किंतु सत्य और संयम के दो झरोंखों से होकर उसके प्रेम की वही ज्योत्सना छन-छन कर उसे सहज-संयम में मानों पाग रही थी, जो उसके अंतर्द्वन्द को इन भावनाओं से परास्त कर चुकी थी कि 'जिसने दुःख को नाश कर दिया है, उसे मोह नहीं होता और जिसने लोभ नष्ट कर दिया उसे ममत्व नहीं भाता और सच ही उसका हृदय वज्र हो गया था। कल भोर होते ही चला जावेगा परदेशी और जाने क्या क्या सोच गई वह।

उस रात सो न सकी। भाँति-भाँति के विचार—प्रहरुओं ने मानों निद्रा-देवी को उसके निकट जाने से रोक रक्खा था। किंचित तारिकाओं के मध्य वह उठी। आँगन व छोटे से दालान को झाड़-बुहार कर शीघ्र ही आग जला कर उसने पानी गरम होने को रख दिया तथा स्वयं आटा गूँध कर चार गरम मीठी रोटी सेकीं। यही तो उसके परदेसी को भाती थीं। वह पुनः पुनः द्वार पर आहट लेती, कहीं परदेसी जाग तो नहीं गया। अपने सुहाग-चिन्हों के रव को अपने में दबा कर साध कर डग रखती वह कि कहीं सुहागिन के यह शब्द सिंदूर—देवता तक पहुँच कर उन्हें यह न जता दें कि तुमने इसी अभागिन की माँग में एक दिन सिंदूर डाला था।

अचानक वे ही पुराने छंद व दोहे उसके कर्ण-कुहरों से टकरा कर ऊधम मचाने लगे। परन्तु वह ? वह तो हिमालय के समान निश्चल हो चुकी थी और पवन के सदृश स्थिर, जिससे परदेसी का मार्ग और भी स्वच्छ एवं सुरक्षित हो चुका था।

ऊषा की सूनी गोद अरुणाई ने भर दी थी और उसे गोद में लेकर मन्द मन्द मुस्कराते हुये वह आगन्तुक परदेशी स्वागतार्थ अंचल फैलाये खड़ी थी। एकाएक वह आ भी गया और पक्षी चहचहा कर

अपने अपने नीड़ों से उड़ कर भोजनार्थ जाने लगे। रूपा ने आकर माला को जगाया। अचानक उसे कुछ स्मरण हो आया। माला के हाथ—मुँह धुला कर गर्म जल परदेशी को भिजवा कर आप चारपाई उठा कर उद्यान से चुन चुन कर लाए सुगंधित पुष्पों की एक सुन्दर सी माला गूँथ डाली।

उधर परदेसी ? उसकी कुछ समझ में ही न आ रहा था। यहाँ तो उद्यान, पुष्प, कल-कल करती सरिता सब कुछ उसे जैसे जाना पहिचाना लग रहा था और रूपा और उसकी माला ? किंतु वह सब कुछ जान कर भी अनजान बना रहा।

क्यों ? परदेसी था न बेचारा। वह तैयार होकर चलने को ही था कि लोटे में जल और मीठी रोटियाँ लिए रूपा सकुचाई सी आकर एक ओर खड़ी हो गई। परदेसी ने देखा—

"अच्छा ला माला। दो रोटियाँ खा लूँ।"

रूपा ने जल तथा हाथ की थाली भूमि पर उसके सामने रख दी। वह खाने लगा बड़ी तन्मयता से। रूपा आत्म-विभोर थी। लगन ने लगन को ढीला कर लिया था, वह हार कर भी विजयी थी। अचानक रूपा के काँपते करों ने परदेसी के चरणों पर कुछ कोमल सा बिखेर दिया। परदेसी ने तुरंत ही उठा कर उसे कंठ में पहिन लिया और चल दिया अनजान के समान। माला ने छोटे छोटे करों को जोड़ लिया। रूपा ने मत्था टेका और वह मूक चला जा रहा था। रूपा द्वार से लग कर खड़ी हुई जाते परदेसी के मुख—कमल को एकटक निहार रही थी।

वह बढ़ता जा रहा है उसके नैन-ज्योति का दीपक साथ लेकर। एक बार घूम कर देखा, मानों कह रहा था 'साध्वी तेरा सुहाग अचल है। तेरे युग-सितारों की दिव्य-ज्योति का यह दीपक मुझे सहज-मार्ग दरसाता चलेगा जिससे मैं कभी पथ-भ्रष्ट न हो सकूँगा और दोनों ही विजयी होकर रूपक-माल धारण कर वहाँ चलेंगे जहाँ से परदेसी कह कर हमें कोई लौटा न सके देवि।"

उसके हृदय में थे आँसू और उसके नेत्रों के झरोखों में झाँक रहा था 'परदेसी'।

❀❀❀

CONTROL OF MIND

(SHRI RAM CHANDRA JI, PRESIDENT S.R.C.M.)

India is the home of spirituality. As such the speculation has been active in all ages. This is the time when the dorment forces of man are taking a deeper trend on spiritual plane. The world is also having its own share in building the entire structure of man on the basis of spirituality. The most encouraging feature of the day is that they are all seeking the way for peace. In-spite of so much wealth in some parts of the world peace is wanting The external means are adopted in vain for earning peace. Unless we turn ourselves in wards seeking peace, we can not have even a grain of it. Different methods are being adopted for securing peace; one adopts it according to ones own temperament.

The teachers of the day mostly leave the burden of controlling the mind on the taught which really makes it a d fficult problem for the abhyasi, with the result that he is unable to overcome the difficulties. In such cases nothing remains to be done on the part of the teacher. In other words the duty which devolves on the teacher is shifted on to the taught.

The Yoga Marga brings the result very soon

if one has the real devotion side by side, because by the instrument of devotion one becomes attached to the Beloved soon. The thought of Beloved is there which helps a man to go into deeper consciouness. If some, how we get the teacher who can foment us by his internal force aquired by being a Bramhanishta then the difficulty is mostly over and we soon begin to peep into the Real Being. There may be so many method of Yoga under different names and I present the remodelled method of Yoga under the name of Sahaj Marga.

The Abhyasi is recommended to do the meditation on heart supposing the Divine light within. The master attends to the cleaning of the system by removing Mal (मल), Vikshep (विक्षेप) and Avaran (आवरण) and is a great help to the Abhyasi through out the spiritual career.

We have come down from the main source, & when we want to reach there we will have to ascend crossing the different Chakras or plexes. I am not dealing here with the tachnique of Sahaj Marga but a few things necessary for the men who have formed their tendency to rise above themselves. The training under Sahaj Marga starts from Karan Sharir (Causal body) where the impression are in seedling form. We do not stop the thoughts which come to the Abhyasi but we try to clean every

centre of the nerves and the mind lake (Cit) itself We clean the very bottom of the mind lake where front the waves start. If we some how succeed In stopping its waves the matter which gives them rise will remain as it is. It is possible that by the force of the will the thought waves may be stopped, but the matter which had given rise to those thought waves remains. And if it is not removed, the liberation is not possible. We should proceed in a natural way so that the poison at the root may be removed. Our associates also complain of the incursions of the thoughts, but they are happy at the same time as they find thoughts less disturbing.

We can attain liberation, as our scriptures say, only when we are free from the coil of past Sanskaras or impressions. The present Sanskaras are so much controlled by themselves that no further Sanskaras are allowed to be formed. I tis, of course, a spiritual state. And we come to it easily in Sahaj Marga when we go deep into the consciousness.

The thoughts, which the mind creates, help a great deal to bring the past impressions to Bhogam. But the people may express the fear that, in case they adopt Yogic means and the trail of Sanskaras eontinues, they may be in greater diffiiculties and may suffer from ailments diseases and accidents. They may be right in their fears. But if such thing

is to happen, the presence of the Master will, in that case, become useless. The Abhyasi himself works in removing their intensity, and the force of the master too helps the Abhyasi in his efforts to fry them to a great extent. The method may look foreign to the readers but it is the ancient method which lay burried so far. The effect of the Bhogam is not so serious as the abhyasi consider in spite of the fact that so many impressions have pushed themselves for the Bhogam. The cleaning of the system itself means the removing of all these things. The cleaning of the system brings the desired result very soon, and we become lighter and "Sookasham" day by day to secure union with the Lightest.

———

SIDDHIS

(SHRI RAGHAVENDRA RAO)

We are told that "Siddhi" literally means attainment, achievement, completion or even perfection. In its wider sense there appears little sense in writing anything about it as it may cover all arts from divinisation to pick-pocketing. Hence we shall confine our essay to the famous aphorism of Patanjali, viz-

"जन्मौषधि–मन्त्र–तपः समाधिजाः सिद्धयः ।

First of all let us clarify our reason for attempting to write about Siddhis. It is generally believed that siddhis are necessarily indicative of Divine wisdom. And supernatural powers, mysterious phenomena or even abnormal mental states are kept in view while thinking of siddhis. The word is mystified still more by the fact that almost all our ochre-coloured swamijis, who are supposed to teach us religion, take great pains to make us believe that they are siddhas or possessors of siddhis. Consequently, some of us turn non-believers and call them-more often quite justifiably–impostors and dupes, and some of us lose faith in our capacity to gain Divine knowledge due to the mysterious and

ambiguous nature of siddhis which are mistakenly considered to be indispensable, and many of us fall into the trap. Hence it is necessary to inquire into the nature of siddhis and their place on the path of Divine knowledge.

Many elaborate commentaries are written on the sutra referred above which, we are given to understand, means, "Siddhis are of different kinds, namely:- by birth, caused due to drugs, by repetition of sacred formulae, and by askesis." If by siddhis abnormal powers are meant in the sutra, the whole sutra or even the whole book becomes meaningless because Patanjali, the sutrakara, has compiled the work with a view to enquire into the nature and activities of mind and the methods to attain "KAIVALYA" through the realisation of self, Ishwara, or purusha-vishesha who is devoid of all bondages and who is indicated by "ॐ", or to abide permanently in Him (swarupa). If we keep this aim of the sutrakara before us while interpreting the sutra an obvious meaning of the sutrakara strikes us, namely CONDITION or STATE.

If we reconsider the meaning of the sutra in this light we can at once understand that particular mental states can be experienced. These states are either inborn in an individuat according to his constitution (physical as well as mental and psychic)

or can be experienced by the use of certain drugs, or else can be acquired by the repetition of sacred Mantras learnt through a guru or can be attained by practising austerity or askesis.

At this juncture we should carefully avoid a pit-fall. When we know that siddhi is a mental state–a pleasant one too-we should carefully examine such states produced due to different causes and the difference, if any, between such states produced by different factors. We should be careful, more so because this field pertains to one's own experience and to one's conception construed out of listening to the account of others' experiences–probably called "subjective" in academic jargon.

First of all let us hear what others say who have eaten opium or consumed mescalin or have used the so-called "spiritual" drugs, The more a person is expressive the more vivid and dramatic the description of his thrill, ecstasy, unspeakable or indescribable joy, supernatural sounds, unearthly visions and what not. Then let us hear what the scientists say who claim to have observed and analysed such persons and their experiences. Here too the more athiestic and materialistic (or "brain-dependent"–to be more sophisticated) the scientist, the more the vehemence in his insistence to equate the experiences of the dope-fiends to those of a

mystic or a saint. But to be on the safer side let us not experience the effect of drugs upon ourselves in order to see how it feels like, however charmingly our friends may entice us for a peck of a century old scotch whisky or even a glass of best german beer.

Next, the literature of psychoanalysis gives us abundant material on abnormal child or even adult psychology. By the bye, the psycho-analytical literature has spread so rapidly and so widely that even the "purest" puritan is hardly affected by the mention of the most horrifying sex-abnormalities nowadays. To return to our point, we have heard many cases of seeing the fragrant sounds, smelling the dazzling melodies and hearing the sweet colours etc. We have also heard about many a young person who had frequently had "attacks" of trance, who saw the future, or who read our past and present thoughts, but, nevertheless who turned a scoundrel afterwards. In our country every alternate chap in an orthodox family appears to be a Janma-siddha who converses with some god or a goddess or who is sometimes possessed by one such. All such mental states can be traced to the individual's constitutional set up-call it a defect, if you consider yourself to be a braindependent scientist: nevertheless such states are wondered at by the vulgar and common people.

If some words are taken up and repeated for a considerably long period, the practice creates a particular mental state. Some people find such a state very pleasant. Such a state is particularly more soothing and delightful when the words are associated with love towards an object. There are certain words having particular consonants for the production of particular conditions like terror, swoon, trance, hypnosis or ecstasy. Here too, the effect may be traced to the rhythmic vibrations of sound produced by the repetition of the words affecting the brain, or the mind if the will-force is applied.

Now we may examine the siddhi attained through Tapas, askesis or the practice of austerity. If austerity is practised without any love or devotion to God but simply with the motive of acquiring some siddhi or supernatural power, it will, no doubt, produce some siddhi. Hatha yoga or our swamijis' much trumpeted kundalini yoga are its examples. (Our mahatmas mention about kundalini when they are not talking of Bhang or Ganja. Or the more "advanced" swamijis start recommending the rousing of kundalini when they finish off burning of tons of ghee and corn by way of havan.) What are the methods adopted ? Intense imaginations or terrific mortification of body creating hallucinations or benumbing of the brain. These are indeed the Tapas-siddhis which we are recommended to attain in order to have divine knowledge.

The siddhis which come during the practice of Raj Yoga under the system of Sahaj Marga are natural ones. The states or conditions are so natural and so light that one is hardly aware of them. Nevertheless, if one is keen and alert in his observation he will find the various states so naturally and thoroughly evolved one after the other that he is wonderstruck. The awareness of one pervading everywhere, of one having become the many, of the one source, of one alone Existent, of one alone manifestant are really the siddhis one has to aim at to have divine knowledge. These are truths verified by almost all the saints and sages and are verifiable by anybody who wants to. The so-called "bliss" about which much talk goes on also becomes subtler and subtler or more and more refined and rarefied so much so that ultimately it is left far behind, for good. These come through "samadhi" or eqanimity.

Please do not be naive in asking us about the so-called classical ashta-siddhis, namely-levitation etc. They are true in so far as they point towards one's dream-stage experiences. But if you mean by them the feats displayed by the so-called siddhas or mahatmas, well, to be frank, we have not yet come across such a chap and we are afraid, we may not at all be able to see such a one. Please do not fling upon us the authoritative commentaries of great authorities. We wonder to what extent the authorities themselves had any experience or to what extent they could free themselves from authoritarianism. Do you think that we are suggesting that all these are fairy tales and impossible ? Well, we do not wish to impose ourselves upon anybody. You are free to believe as you please. But, for your own sake, do not be superstitious.

Talks on Shri 'Babu ji's'

'Commentary on the Ten Commandments of the Sahaj Marga'

(By Dr. K. C. Varadachari)

COMMANDMENT 1

Rise before dawn. Offer your prayer and puja (worship) at the fixed hours, preferably before sunrise, sitting in one and the same pose. Have a separate place and 'asan' (seat) for worship. Purity of mind and body be specially adhered to.

(1)

The importance of getting up at the time before sunrise for our daily duties has been long recognized. Indeed the last two hours of the night preceding the day-break or sunrise has been called BRAHMI-MUHURTA. It is literally the hour of Brahma, the creator of the universe. In the northern hemisphere it is the month preceding the uttarayana, and is called the month of MARGASIRSA when the sun is in the constellation of sagittarius or dhanas. Sri Krishna has said that among months he is the month named margasirsa. It is well known that all creative work starts with the dawn. Vedadhyayana, music and other learning of fundamental sciences are counselled about this hour. The day for the Pancaratra agama begins with the hour of abhigamana or moving about.

The first commandment accordingly states that one should rise before dawn or sunrise. Master Ram Chandraji Maharaj gives another reason. This is to reveal the correspondence between the creative period of the entire universe and our own times as calculated from the movement of the sun or diurnal rotation of the earth.

At the beginning it must be presumed that only the transcendent beyond all thought existed. Obviously such an existence is completely different from what we call existence because all this arises from that through the act of original thought. This thought also must be considered to be different from all our thonght but that it is the power of manifestation or energy of projection or manifestation. This is the most powerful force or energy from which all creative being proceeds. This thought having arisen comes into contact with energy-particles which are of the subtlest nature in the beginning. The thought itself is that which proceeds from the divine fire (or agni or divine will) which is eternal, from which all things or thoughts arise and to which all return.

The energy particles coming into contact with thought get heated up and move out; and in this moving out they irradiate the entire universe, forming rings and rings and individuating themselves.

If we can conceive of each particle of energy as a soul or ego its coming into contact with the original thought arising from the divine fire eternally existing, it will be seen that each of these has produced for itself a series of rings which are, as they become distant from the centre, grosser and grosser, and get caught up in these rings which are indeed its cocoon so to speak.

It must be seen that the process of creation or daytime starts with this push towards grosser and grosser existence, as the heat divine becomes operative in converting subtle energy into gross particles. The necessity to see that this precise time of our grossening must be taken advantage of for realising subtlity becomes clear. We have to reverse this process by practice of connection or maintaining through the thought divine with the centre or central thought or condition which is tam or that (second-person singular of SAH.) This condition may be said to be the ultimate State or God. It is absolute peace or SANTI, beyond that nothing is.

Man strives for this SANTI or peace within. There is resemblance with this SANTI of the time of creation or rather dissolution. The times of conjunction or SANDHI between creation and dissolution are both early morning before sunrise, and sunset in the evening and this SANTI deepens

quiet, the living in the ultimate fully which develops sahaj samadhi, natural absorption, in the ultimate who verily is the source of both creation and dissolution. Thus one develops the vision of the transcendent.

Master has also suggested the connection botween the seasons; as we have stated it refers to the moving of the earth round the sun and marks out the periods of heat and cold, expansion and contraction, manifestation and absorption.

Master does not mention the metaphysical views separately. It will be clear that we accept (i) that there is an original divine fire existing eternally into which all enter and from which all emerge through the first original thought. This state or existence is back of all existences but itself cannot be described in terms of these existences. Master calls this zero or nothingness. This is the goal of all human beings, and as such it is God. (ii) There are very subtle entities or particles which are of the very nature of energy. They too are eternal in a sense but they are withdrawn into the ultimate at laya or pralaya. Individual souls exist eternally. They reach upto this state during their attainment and realization and in pralaya are just withdrawn indistinguishably into the centre, and in srishti or creation they come into manifestation. But it is not

lised souls
bondage.
is highest
get grosser
return to
who have
o the world

ising from
f our gross
ts for the
d outward.
hree eternal
ce of the
eads to all
he help of
s reached
t one can
reat effort.
aster who
the times
ature. He
being to
nder to the
path are
he activity,
hat activity
sloth and

Mid–Day. Equinox Mar. 21 (Day and night equal.)

North Rajas

SANDHYAS.

1. Day and night—Evening.
2. Night and Day-Morning.
3. Forenoon-afternoon,
4. Forenight and aftermidnight.

Day is activity-creation
Night is REST-Involution
coolest hour like LAYA

Sisira
UTTARAYANA SATTVA
Dec. 21 Dawn East
(longest night sunrise)

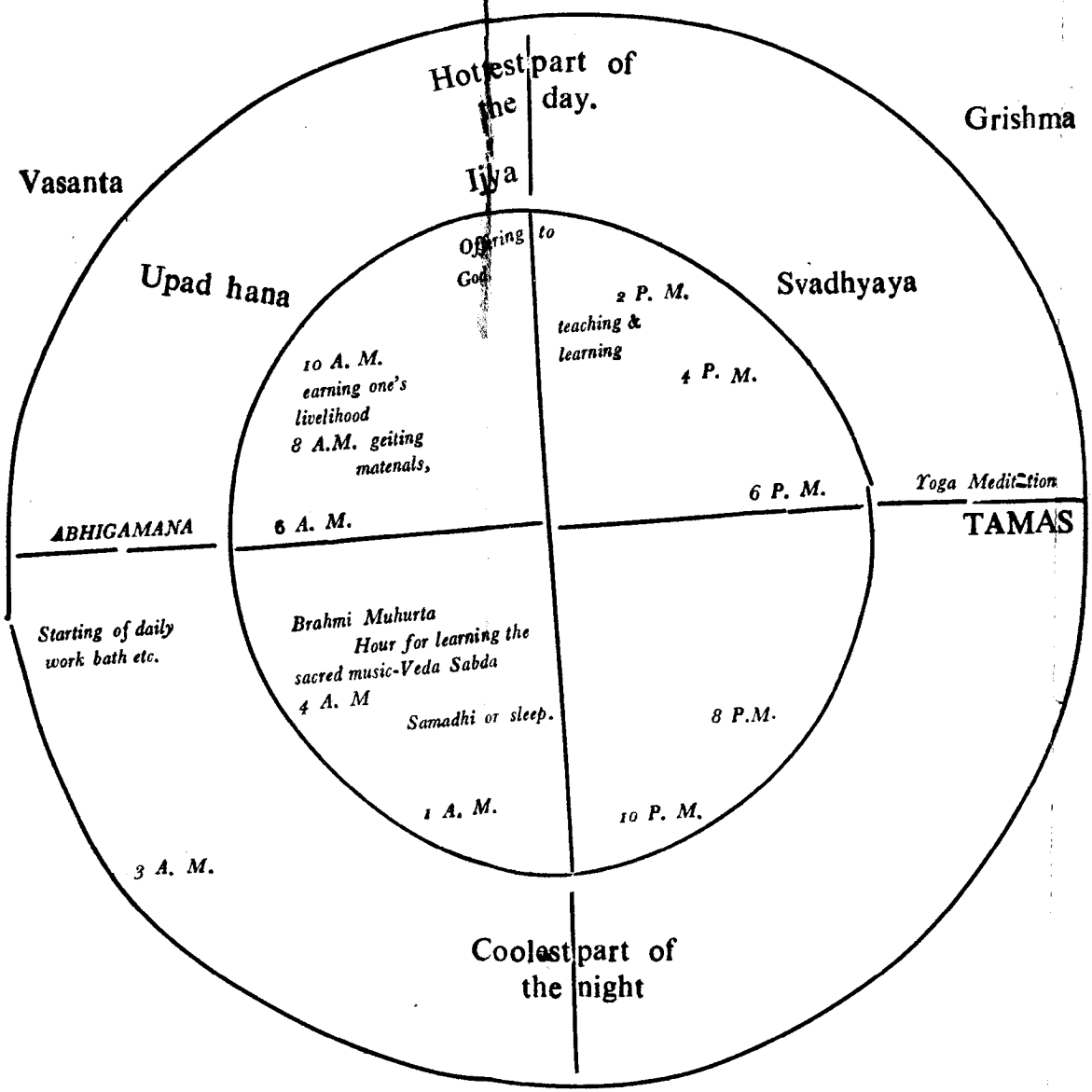

Midnight equinox sept. 21 (Day and night equal.)

Mid-Day. Equinox Mar. 21 (Day and night equal.)

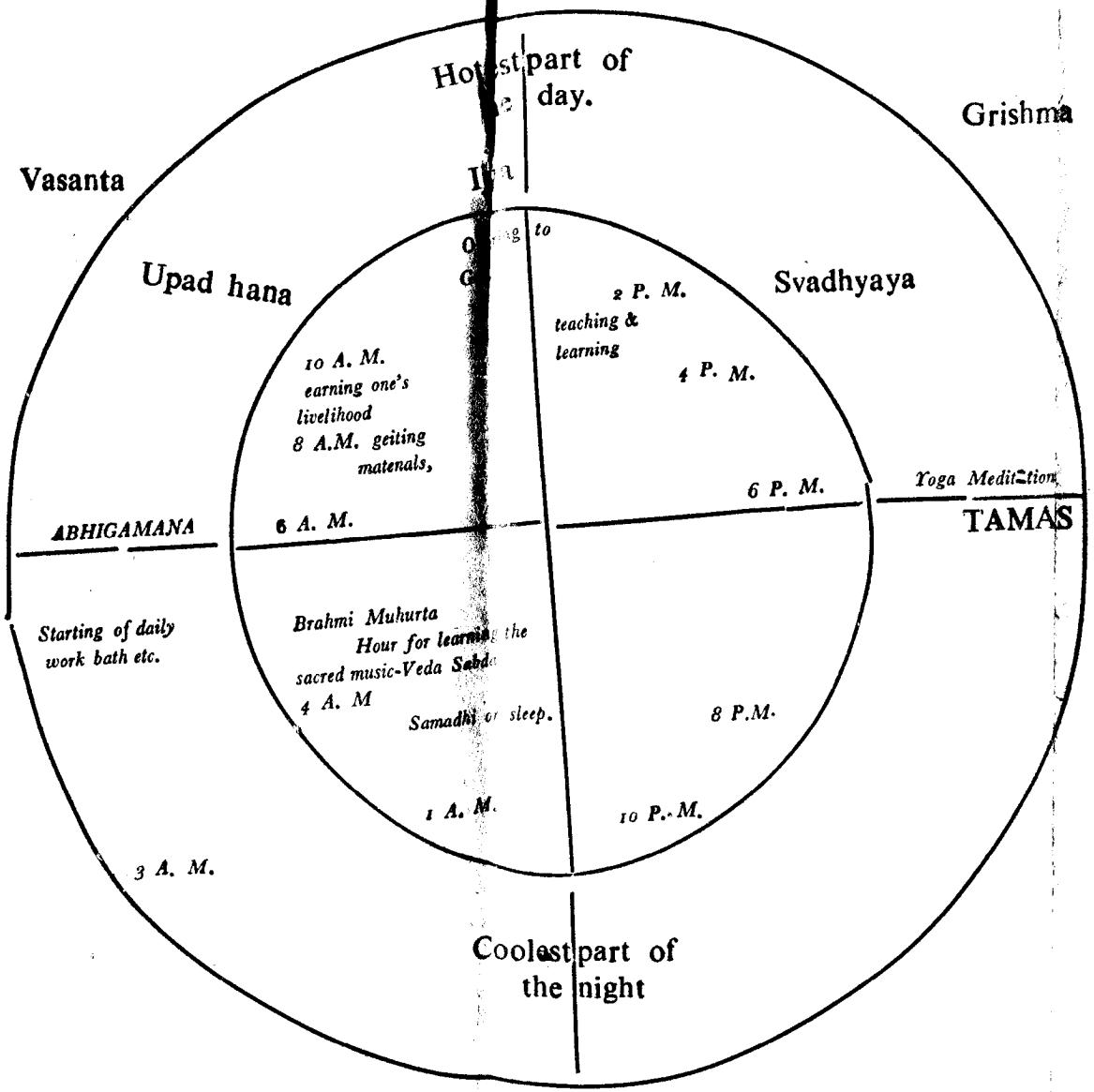

Varsa

West Dusk June 21
sunset Longest daytime.
DAKSINAYANA.

TAMAS

Sarad

Midnight equinox Sept. 21 (Day and night equal.)

quiet, the living in the u
sahaj samadhi, natural a
who verily is the soul
dissolution. Thus one
transcendent.

Master has also
botween the seasons; as
to the moving of the
marks out the periods
and contraction, manife

Master does not
views separately. It will
that there is an origina
into which all enter a
through the first origi
existence is back of all
be described in terms
calls this zero or nothi
human beings, and as
are very subtle entities
the very nature of ener
a sense but they are
at laya or pralaya. In
They reach upto this
and realization and in
indistinguishably into t
creation they come int

at all necessary to hold whether the realised souls of the previous creation period return to bondage. Only those that have not reached this highest condition return to the manifestation and get grosser and grosser conditions which means a return to sorrow. The ancient view is that those who have attained oneness with God do not return to the world of gross manifestation and sorrow.

There are thus particles of energy arising from Thought action which forms the world of our gross experience and rings or sheaths and knots for the souls as they proceed to move outward and outward.

Nature, souls and God are thus the three eternal entities in essense. Thought is the force of the divine in which every soul shares, which leads to all process of manifestation, and it is with the help of this force as given by the master who has reached the ultimate identity with his thought that one can return to the same directly and without great effort. What is necessary is the finding of the master who will do this for the individual. He knows the times and hours and powers of the divine nature. He makes one pass from one's little private being to God's and master's world of reality. Surrender to the godhead and willingness to pursue the path are absolutely necessary. Cold promotes in some activity, in some sloth, and death. One should seek that activity which leads to liberation and not gross sloth and gross death.

(2)

Sri Ram Chandraji introduces into this topic an important principle, namely, 'invertendo' or inversion. this consists in the peculiar process of inverting the arrangement during the passage from one place of experience or existence to another. The left of an object becomes the right and the right becomes left at a different level. In logic we speak of conversion as the process by which we make the subject of a proposition the predicate and the predicate the subject. But inversion proceeds further and in it we make the contradictory of the subject the subject and the contradictory of the predicate the predicate of the new proposition. Undoubtedly there is a change in the signs affirmative and negative in order to accord with the principle of keeping up the meaning. There is, of course, an intermediate step in this process of arriving at the inversion, namely, the contrapositive. The idea, however, is that these are but ways of expressing the meaning of proposition in terms of subject and predicate and in terms of their negatives.

We are not concerned with this logical process, for we are not attempting to keep the meaning the same, rather we are attempting to reveal the inner dynamics of movement which leads to either the

expression or passage of ascent or descent.

Thus we know in physiology there is the arrangement of the nervous paths in such a way that the left-side nerves move over to the right side of the brain and the right-side nerves move over to the left side of the brain. This is called decussion. There is also in respect of the eye, semi decussion, one group of left side nerves move to the left itself and another of the same move over to the right side, and similarly with right side group of nerves.

Sri Ram Chandraji has written in the Efficacy of Rajyoga about this decussion or inversion of the sides in respect of the upper and lower parts of the heart and bramhanda, parbramhanda and the central region. The upper becomes the lower and then once again becomes the upper and so on.

This seems to be so general or universal a law that it is perhaps possible to apply it to the knots which seem to operate in this manner because of the twist that enters into every knoting.

Sri Ram chandraji has explained in the context of the first commandment that the sattva, rajas and tamas of the times or matter are but the inversions of the higher levels. Thus tamas (or Tam) which

is nearest to the Ultimate appears to be the farthest from reality in the appearance and is the lowest in the scale of matter. Sat or truth is seen to be highest from our point of view but it is indeed left far behind when we enter the realm of spirit. rajas as activity, however, retains its place being always the middle. It is consciousness-force, activity and so on. Tamas is called inertness, so too tam is activityless and is peaee, free from all change and so on.

TAM (Ananda)	The inversion is as in a
CONSCIOUSNESS (cit)	mirror.
TRUTH (sat)	Sattva is the image of sat.
Sattva	Rajas is the image of cit.
Rajas	Tamas is the image of
Tamas	tam.

Thus the coolest portion of the day is that of Tam, and the hottest portion of the day is rajas or cit. The state of laya is nearest to Tam (and it is unfortunate that this period is utilised for the most indolent and slothful if not perverse utilisation of cool hours when calm and peace can be easily attained. The night is usually the time when asuras are said to do their dirty work, but it is also utilised by saints for attaining the highest peace by their meditations and absorption in the highest. The night resembles the period of laya or dissolution, mergence and union, rather than the day time, which is for creation, emergence and separation.

(3)

Last week I spoke about the importance of choosing the SANDHYA or the meeting time between the external heat and the cooling off of the same as the best time for meditation as it will considerably help in the attainment of LAYA-AVASTHA, which we are all seeking with the ultimate reality beyond time. The times that we know as the SANDHYAS are, of course, relative to the sun, the earth and perhaps the moon also and finally our own time as determined by our waking and sleeping hours. In a sense this is spoken of by the Prashnopanisad which describes the day times and night times, but it does not clearly indicate the SANDHYAS as important. However, the most important hours for meditation are the cooling hours of the night-both at the time of going to bed and at the time before sunrise. These are naturally helpful and we utilise the natural time for meditation for our purposes. The times follow the laws of influence of externalheat.

It must be clearly noted that in this Natural way of union with the ultimate reality which is our goal, the transcendence of even the levels of existence or sat or truth and consciousness is aimed at.

A brief explanation of the important mystic law of invertendo or the law of inversion can be given to illustrate how the mystic or yogi aims at the tam (that) stage beyond the sat (satya or truth.) It is the stage beyond philosophy from which philosophy springs, it is the basis of real experience which makes for the judgments of sat. Sri Ram Chandraji Maharaj has stated clearly that we all think of the three g unas-sattva, rajas and tamas as being placed in a particular order. Tamas is the lowest, which means inertia, very much similar to the stage of inconscient things, rajas is activity and motion and passion, whereas sattva is the acme of harmony, light and so on. This is the order of the phenomenal life. We all seek to attain sattva which will help us to know truth. The yogi going beyond the nature sees that these three gunas are but reflections so to speak of the highest nature and in this reflection we find that sattva or satya is the nearest and lowest whereas tamas or tam is the highest and is what we have to reach. Rajas is what remains in the middle always. It is in fact the common point. It has the nature of activity in the lower and consciousness at the higher. That is why consciousness mediates between peace of attainment and perfection which is unchanging, and truth which is constantly being modified by further experience and is also a test of existence.

The necessity for purity is very clear. purity of the body is helpful for meditation. Thus one should be pure and clean in every respect when he gets into meditation. Thus there is necessary the preparation for meditationsuch as cleaning oneself fully. It makes the meditation healthy and one's attention is not diveretd to the body. There is also needed the selection of a pure place which is clean. One has to choose a place where there can be no disurbance at least during the period of meditation. The time of meditation being regularised one habitually turns towards it when the time arrives. So also when one approaches the place of meditation, the meditative mood will return to him.

The next important step is asana or posture. Master has stated that the natural posture (siddha or ready posture) which we take when we sit is best. There are mentioned many postures or asanas such as padma, sarvanga, sirsa, hala, bhujanga, kukkuta, matsya etc. But not all of them are useful for our meditation, though they may be good for health and other purposes. For purposes of meditation and prayer we ought to take up the sitting posture which is steady and easy and which can be maintained for at least an hour without discomfort. It is clear that siddha and padma asanas are the only two good asanas that one can assume In these two asanas the head must be kept erect and the back

must also be straight and curved. It is to be pointed out that it helps the descent of the grace to the heart much more easily and has probably no connection with the kundalini ascent as such, though it is not ruled out.

In the asana we assume a posture of withdrawal of our sense and motor movements corresponding to our aim, namely, laya with the highest. As Sri Krishna has stated one has to withdraw one's limbs into oneself (sense-organs, motor organs and mind) even as the tortoise does Thus asana which is uniformly assumed helps the meditation.

There is similarity to the deep sleep state in asana since as the Mandukya upanishad stated the sense-organs, motor organs and the manas in their gross as well as their subtle conditions are withdrawn. These operate in the waking and dream states of the individual.

Now the contraction of the activities or withdrawal of the activities leads or helps towards recapitulating the original conditions of the tam or latent state prior to manifestation. The individual will thus make effective his unity with that latent condition,

The master shows that once these are attained and one begins to meditate on his heart which is

the meeting place (sandhi) of the acit and cit conditions or the gross and the subtle conditions of the original force, then thanks to the grace of the master and his transmission, the gross particles begin to become subtle and subtler till they are finally recovered and merged into the latent state. The heart's importance in this is clear because it is at the heart that one really perceives, so far as man is concerned, the meeting place and conversion of the gross particles ard paramanus into the energy that finally becomes latent or merges into the ultimate. The yatra or travel to the source becomes automatically started once the prayer is made at the appropriate time and place and in the appropriate manner.

The whole commandment in a nut-shell states that for the speedy purposes of realization it is best and advisble to choose the conditions which will not interfere with our abhyas. The time to be chosen must be the time when external physical or gross heat of the sun is not active; thus bed time and early morning are very good periods. clearliness of the body and mind is necessary. One must have the yearning for peace which one seeks when going to bed after a hard day's labour or work. A fixed place and fixed pose are additional helps. Meditation on the heart is most useful and imperative for peedy approach to the ultimate state.

Above all master's grace is to be sought integrally. All the others such as time, place and pose are relatively helpful and one should not drop abhyas just because one has no time, no place and no convenience and is unable to sit in the siddha or the padma asanas. Master will help all if there is aspiration for the ultimate and its descent in oneself.

Therefore the first commandment is comprehensive as it covers almost the yama, niyama, asana and dhyana stages of the yoga-sastra.

(Series to be continued)

❀ ❀ ❀ ❀

Once in a gathering of abhyasis a discussion on the theories of the Acharyas of Vedanta was going on.

The master intervened, "To my understanding Adwaita refers to the spiritnal state in which the consciousness of the pair of opposition is dropped out"

Misunderstandings about yoga

II—TYPES OF YOGA

(Shri Ishwar Sahai)

The presence of numerous types of yoga, each treated as distinctly apart from the other is often most baffling to an abhyasi who is on this account at a loss to understand the real significance of yoga. So much emphasis is laid on each one of them that it becomes almost impossible to decide which is best suited to the ultimate purpose of a true seeker of the divine. There are thus karmayoga, bhaktiyoga and gyanyoga, each represented as a complete form of yoga. Further more Japa yoga tapa yoga, mantra yoga, tantra yoga etc. with their set courses of practices for particular ends-not necessarily realisation of the Absolute; still more, daya yoga, samadhi yoga and even kundalini yoga, this may indirectly go to mean that any thing or every thing that one might undertake for the achievement of his desired object is yoga. What may all that mean or what may be the real purpose at the root becomes thus a problem to solve. Consequently yoga which in it-self is quite plain and simple becomes a mystery to most of the people. It is for this reason that lying on thorns, standing on one

leg or practising a few exercises of asan or pranayama is considered as yoga. What a great diversion from the real point. Yoga which is originally a great psychic science to help man to realise the highest, has on account of these false and misgui ded notions become a physical pursuit for the achievment of certain miraculous or supernormal powers.

Yoga is the natural life of a man and does not admit of any mystery or miraculous happenings. It is quite simple. It is neither religious moralism nor self extinction. It does not involve hatred of existence, non-work, non-responsibility or exemption from duties, whether in respect of the world or the divine. It is really an accurate method of living in divine consciousness, away from egoistic consci ousness.

Yoga practices are very old and were followed by saints and sages long long before Patanjali's yoga shastra was introduced. References to yoga can however be traced out even in the Upanishads, but during the period there being no systematic expositi. on of the subject, the practices followed were based on the practical personal experiences of the teachers, which passed down from heart to heart or from the teacher to the taught. There may, however, for reason of varied experiences and different

levels of approach of individual teachers, have been variations in the methods followed in individual cases which subsequently developed into different forms, now coming down to us as so many different types of yogas.

In order to remove this complexity, the great sage patanjali made the marvellous effort to present a cosolidated form of yoga by coordinating the different types, prevelent at the time. The system expounded by him is known by the simple name of 'yoga' without any kind or classi-fication. It includes all the ess-ential features represented by the different types under different names. Karma, bhakti and gyan are the very component features of it, japa, tapa etc are the means or practices prescribed in individual cases in accordance with the particular needs of an abhyasi, and laya and samadhi are the final results to be achieved. It is a systematic course, complete in almost every respect to suit the purpose of an aspirant from the beginning to the end. It is only this form of yoga that must duly be taken into consi deration while refering to yoga and not any of the fetish pursuits provided for by the sub-classifica tions. Really yoga is one and only one and all the various types are like partial in ferences drawn by a number of blind men about the real shape of an elephant. The elephant, as a whole not being in comprehensive

feelivg of any of them, each presumed it to be like one of the limbs he came in contact with, thereby concluding it to be like a snake, a rope, a fan or a piller. This is one of the basic errors which is responsible for so much mystification of yoga. The Sahaj Marga, therefore, not taking into account any of these types, hits directly upon the main issue right from the beginning, treating it as one complete system based on natural science, sufficient to lead a man to the highest level of spiritual attainments.

But yoga expounded by Patanjali can however be divided into two sections the Hathayoga and the Rajyoga, though the expounder himself makes no distinct demarcation between the two nor does he even mention the two names. Hathayoga pertains to the physical side of yoga and deals with the bodily practices to control the activities of the body and the mind, whereas Rajyoga pertains exclusively to the real pursuit and deals directly with the finer experiences connected with the soul. Under Patanjali's system of yoga, Hathyoga was treated as an indispensable prelude to the main pursuit-the Rajyoga. But the rigid rules of life, involving austerity, penance and mortification required for the practices of Hathayoga, not being in keeping with the ordinary worldly life, the two-the yoga and the worldly life, came to be treated as the two altematives, in complete contrast with each other. That

is a very improper and misleading view. It is in fact only the transformation of the ordinary life into yogic one which is needed for the pursuit of yoga. But unfortunately no attention has so far been paid towards coordination of the two ways of living so as to make highest attainments in yoga easily obtainable in an ordinary worldly life. Hathyoga, sofar as it relates to the physical regulati on of the body and the mind may at its elementary level be taken as a preparatory course for the main pursuit. But over-attachment to its details inorder to enforce indiscrminate suppression and strangulation of mind and Indriyas so as to stop its normal working is definitely a wrong and unnatural press and greatly detrimental to the final success. The Sahaj Marga, therefore discards mechenical practice of these physical exercises provided for under the Hathayoga clause, except in so far as they relate to the maintenence of sound health; and makes astart direct from the regulation of the mental tendencies which control all the physical activities of the mind and the body and helps to being about an allround transformation in the being of a man.

(Series to be Continued)

स्तवन

दिवि भूमौ तथाकाशे बहिरन्तश्च मे विभुः ।
यो विभात्यवभासात्मा तस्मैं सर्वात्मने नमः ॥
स्फुरन्ति सीकरा यस्मादानन्दस्याम्बरे ऽवनौ ।
सर्वेषाँ जीवनं तस्मैं ब्रह्मानन्दात्मने नमः ॥

—योगवाशिष्ठ

[जो प्रकाश स्वरूप सर्वत्र व्याप्त रहने वाला दिशाओं, पृथ्वी, आकाश, और मेरे अन्तर और बाहर को प्रकाशित करता है ।
उस सर्वात्म रूप को नमस्कार हैं
जिस के आनन्द रूपी विन्दु पृथ्वी और आकाश पर बिखर कर सभी के जीवन को स्फुरित करते हैं –उस ब्रह्मानन्द स्वरूप को नमस्कार है ।

[Obeisance unto him who is of the form of everything, the (one) all pervasive being of the form of I llumination, who appears (manifold) in the heevens, on the earts, in the atmorphere, outside myself and within myself. Obeisance to that Being of the form of unbounded Bliss, the drops shattered from whom on the skies, and on the earth form the life-sustenance of all.]

'सहज-मार्ग' पत्रिका के नियम

—:※※※:—

१–'सहज मार्ग' प्रति वर्ष चार बार जून, अषाढ़, अश्विन, पोष अथवा मार्च, जून, सितम्बर और दिसम्बर में प्रकाशित होता है ।

२–'सहज मार्ग' का मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक साधना पद्धति से सम्बन्धित गूढ़ रहस्यों का यथा सम्भव उपयुक्त प्रकाशन है ।

३–'सहज मार्ग' में प्रकाशनार्थ आने वाले लेखों, कविताओं कहानियों आदि का विषय मुख्यतः आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक होना चाहिए ।

४–लेखों, कहानियों, कविताओं आदि के घटाने बढ़ाने, छापने या न छापने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को रहेगा । लेखों आदि में प्रकाशित मत का उत्तरदायित्व सम्पादक पर नहीं, किन्तु स्वयं लेखक पर होगा ।

५–प्रकाशनार्थ आने वाले लेख आदि देवनागरी अथवा रोमन लिपि में कागज के एक ओर शुद्ध एवं स्पष्ट रूप से लिखे अथवा टाइप किये हुए होने चाहियें ।

६–'सहज मार्ग' में प्रकाशनार्थ लेख इत्यादि निम्नांकित पते पर भेजे जाने चाहियें:—

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव
गुप्ता भवन महराजनगर,
लखीमपुर—खीरी (उ० प्र०)

७–'सहज मार्ग' में श्री रामचन्द्र मिशन के अध्यक्ष की स्वीकृति प्राप्त विज्ञापन प्रकाशित हो सकते हैं । विज्ञापन की दर निम्नलिखित है:—

कवर का चौथा पृष्ठ पूरा ३०)	आधा १५)
अन्य साधारण पृष्ठ पूरा २०)	आधा १०)
	चौथाई ६)

८–'सहज मार्ग' का वार्षिक मूल्य ३) है, और एक प्रति का १)

श्री रामचन्द्र मिशन का प्रकाशित साहित्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
1-Efficacy of Rajyoga	*by Shri Ramchandra Ji Shahjahanpur (U.P)*	(रू० नयेपैसे) *2-50*
2-Reality at Dawn	*Do*	*1-50*
३-सत्योदयम् (तमिल)	अनुवादक श्री अ० बालसुब्रह्मण्यम्	
(Reality at Dawn in Tamil translation by A. Balasubramaniam)		1-50
४-सहजमार्ग के दस उसूलों की शरह (उर्दू)	श्री रामचन्द्र जी, शाहजहांपुर (उ० प्र०)	१-००
५-अनन्त की ओर	,, ,,	१-००
६-गुरु सन्देश	,, ,,	०-२५
७-सहज समाधि	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)	०-२५
८-'सहज मार्ग'-प्रत्रिका की फाइल (द्वितीय वर्ष)		अजिल्द ३-०० सजिल्द ३-५०
९- ,, ,,	(तृतीय वर्ष)	,,

मिलने का पता—सेक्रेटरी, श्री रामचन्द्र मिशन,
शाहजहाँपुर उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

SANJAY

(The Inter-Communication and anouncement Device)

An instrument specially prepared for colleges and big offices to help the officer in keeping direct touch with all the rooms. He can hear clearly what is going on in the rooms and can talk to them while sitting in his own office.

For details Pleasc Contact:—

Khandelwal Traders

Lakhimpur-Kheri (U. P.)

Premraj Press, Hospital Road, LAKHIMPUR.